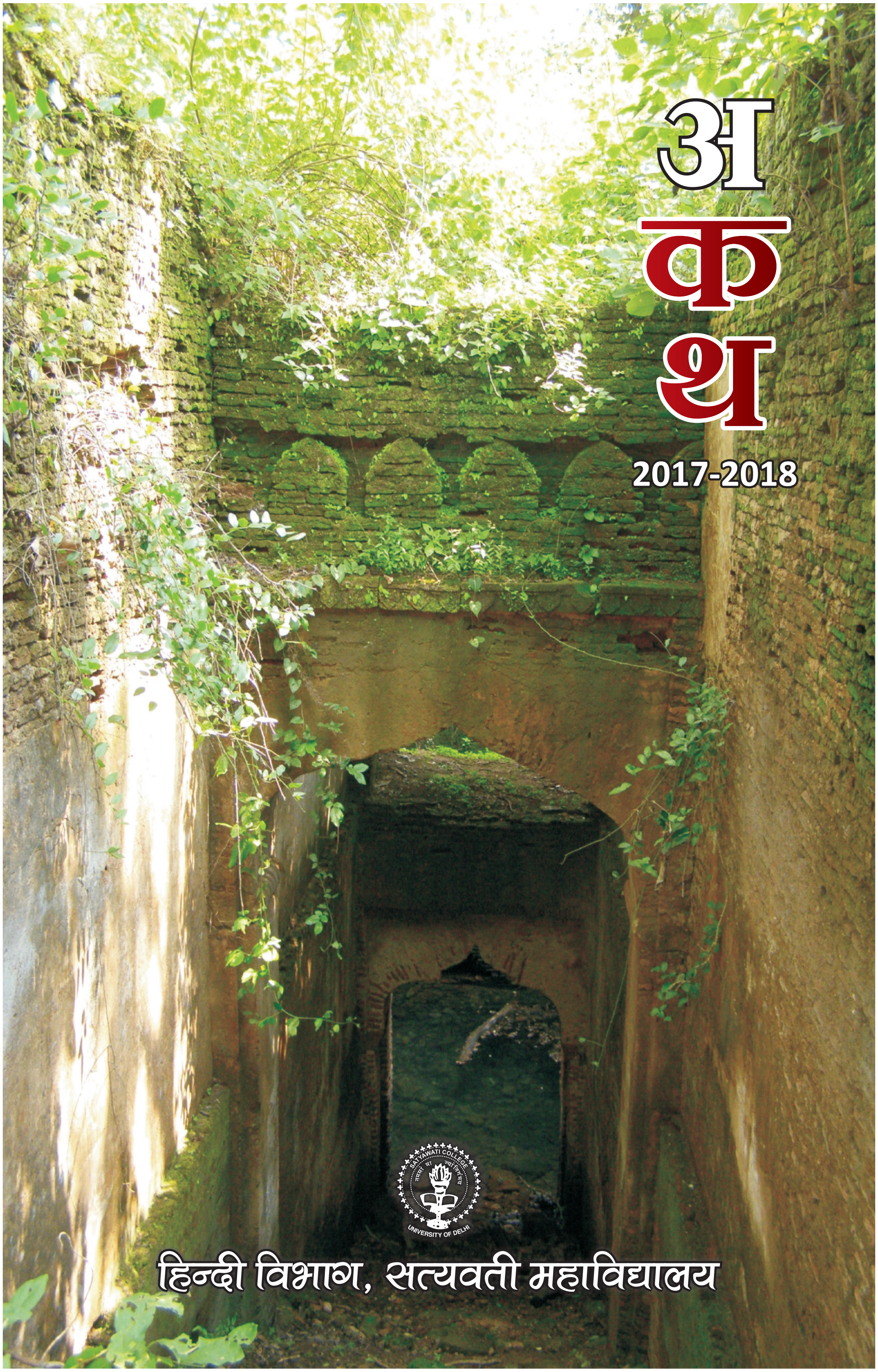

अकथ

2017-2018

हिन्दी विभाग, सत्यवती महाविद्यालय

वे डरते हैं
किस चीज़ से डरते हैं वे
तमाम धन-दौलत
गोला-बारूद, पुलिस-फ़ौज के बावज़ूद ?

वे डरते हैं
कि एक दिन
निहत्थे और ग़रीब लोग
उनसे डरना
बंद कर देंगे ।

- गोरख पाण्डेय

पोस्टर – पंकज

अकथ

2017-2018

संपादन मण्डल

डॉ. कविता राजन

डॉ. मुकेश मानस

डॉ. संजय सेठ

डॉ. राजेश कुमार

डॉ. मनोज कुमार

डॉ. प्रवीण कुमार

छात्र संपादक

आकाश पाण्डेय

आवरण चित्र

डॉ. मुकेश मानस

हिन्दी विभाग, सत्यवती महाविद्यालय

अकथ में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं। उनसे संपादन मण्डल की सहमति अनिवार्य नहीं। लेखकों की रचनाओं की मौलिकता की जिम्मेदारी भी स्वयं लेखकों की है। किसी रचना की आंशिक या पूर्ण नकल के लिए स्वयं लेखक जिम्मेदार होंगे। विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।

© हिंदी विभाग, सत्यवती महाविद्यालय

अंक : 2

ISBN : 978-93-85758-32-4

प्रकाशक एवं मुद्रक :

यशस्वी इण्टरप्राइजेज

जी-2/122, सैक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली

मोबाईल : 9810046257

विषयानुक्रमणिका

संपादकीय

विकट पंथ बहु मार		1

पहला पाठ

काशी का 'उपसंहार'	आकाश पाण्डेय	7
'कफन' की शवयात्रा वाया दलित विमर्श	ज्योति	10
फालतू सामान	अश्विनी कुमार यादव	17
निराला के आत्मसंघर्ष की 'शक्तिपूजा'	प्रीति	21
किन्नर जीवन	कमल कान्त उपाध्याय	24

कविता की दहलीज़ पर युवा मन

पूजा गुप्ता की कविताएँ		27
संस्कृति चतुर्वेदी की कविताएँ		28

लेखक से मुलाकात एवं चर्चा

'कौन जात' हो भाई...		29
डॉ. प्रदीप कुमार से डॉ. राजेश कुमार एवं डॉ. प्रवीण कुमार की बातचीत		
रंगबाज तेरे शहर में...		42
डॉ. प्रवीण कुमार से डॉ. राजेश कुमार एवं डॉ. मुन्ना पाण्डेय की बातचीत		

शिक्षक : सर्जना के झरोखे से

एक और एकलव्य	डॉ. मंजुला दास	49
डॉ मनोज कुमार की कविताएँ		54
डॉ. मुकेश मानस की कविताएँ		60
डॉ. रत्नेश त्रिपाठी की कविताएँ		63
प्रेमचन्द की आँखें अगर काली होती	डॉ. राजेश कुमार चौहान	66
बिदेसिया : पाठ-पुनर्पाठ	डॉ. मुन्ना कुमार पाण्डेय	114
अमृता प्रीतम के साहित्य पर भारत विभाजन का प्रभाव	डॉ. लाजपत राय	124
उफनती लहरों के तट से	डॉ. मुकेश मानस	129
उत्साही लोकमन की लीला	डॉ. राकेश कुमार सिंह	136
फेसबुक ते ट्वीटर ते वाट्सअप दी गड्डी	डॉ. प्रवीण कुमार	139
परफेसर साहेब	डॉ. विनोद चौबे	143
आनंद रंगा पिल्लईः एक भारतीय डाइरिस्ट	डॉ. संदीप कुमार वर्मा	147

विकट पंथ बहु मार

'जो नहीं कहा गया' वही अकथ है क्या? अथवा जिसे सुना नहीं गया या सुनकर अनसुना कर दिया गया वह भी अकथ है? जिसे बोलने नहीं दिया गया, वह भी अकथ है? कोई बात अकथ क्यों रह जाती है? ऐसे प्रश्नों का सरलमार्गी उत्तर दोहराया जाता है कि भाषा सभी भावों और विचारों को पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर सकती। कुछ भी अकथ रह जाने का दोष भाषा के सिर मढ़कर हम बच निकलते हैं। अपने बचाव में हम भाषा को ही अक्षम घोषित कर देते हैं। जबकि सच तो यह है कि भाषा हमेशा अपनी अक्षमता के कारण ही नहीं हकलाती बल्कि भावों और विचारों की अस्पष्टता के कारण भी भाषा हकलाती है जिसके कारण अभिव्यक्ति पूरी नहीं हो पाती, कुछ अकथ रह जाता है। यदि भावों और विचारों की स्पष्टता होने पर भी भाषा हकलाने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उन भावों और विचारों का संबंध किसी छल के साथ है। (पीड़ितों की भाषा भय और असुरक्षाबोध के कारण हकलाती है जबकि उत्पीड़कों और सत्ता की भाषा असत्य के कारण न्याय की लड़ाई के समक्ष हकलाती है। यद्यपि हकलाना शब्द 'भाषा' के लिए नहीं गढ़ा गया। प्रकृति ने जिन लोगों को वाणी का उपहार देने में कंजूसी की है, उनके लिए 'हकलाना' शब्द गढ़ा गया। समाज ने इस शब्द को उन लोगों की अपमानजनक पहचान बना दिया। सत्ता अथवा उत्पीड़क हकलाने का अभिनय करके उन लोगों का उपहास करते हैं, जो सत्ता के सुर में सुर न मिलाए उसकी भाषा को भी मजाक बना दिया जाता है।) एक बात और, सत्य को निर्वासित कर देने के कारण भी भाषा हकलाती है। सत्य को अकथ बनाकर उसका दोष भी भाषा के सिर मढ़ दिया जाता है। क्या कारण है कि शासकों की शौर्य-गाथा का बखान करते समय भाषा अतिश्योक्ति के बड़े-बड़े कीर्तिमान रच देती है। शासकों का इतिहास लिखते समय भाषा बड़ी समृद्ध और अलंकारिक हो जाती है लेकिन पीड़ित जनसमुदाय की पीड़ा की अभिव्यक्ति के नाम पर वही भाषा निरीह हो जाती है! अतिश्योक्तिपूर्ण एवं फर्जी शौर्य-गाथाओं को इतिहास में स्थापित करने वाली भाषा पीड़ित जनसमुदाय के इतिहास को अपने भीतर संरक्षित क्यों नहीं कर पाई? दोष भाषा का नहीं, भाषा गढ़ने वाली व्यवस्था का है।

दिलचस्प बात यह है कि एक तरफ तो हम भाषा के इतिहास को 'शिव के डमरू के नाद' से जोड़कर इसे मिथकीय आभा से मंडित करते हैं, वही दूसरी तरफ 'अकथ' रह जाने का कारण भाषा की अक्षमता ही बताया जाता है अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से शिव के डमरू के नाद को ही अक्षम घोषित कर दिया जाता है। (यह

हिप्पोक्रेसी भी शायद द्वैत दर्शन की ही कोई शाखा है।) यदि भाषा को दोषी ठहराना जरूरी है तो उसका दोष यह है कि भाषा में कुछ अर्थ इतने रूढ़ हो जाते हैं कि वे नये विचारों और अर्थों को जगह नहीं देते। पुराने और रूढ़ अर्थ नये विचारों और अर्थों के प्रति बुरी तरह असहिष्णु हो उठते हैं।

प्रेम के साथ जोड़कर 'अकथ' को रूढ़ कर दिया गया, अकथ को एक मुहावरे में सीमित कर दिया गया–'अकथ कहानी प्रेम की'। इस पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता कि यदि प्रेम की कहानी अकथ है तो घृणा भी अकथ हो सकती है। दुनिया के अधिकांश व्यक्ति कभी न कभी किसी न किसी से कहते हैं–"मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।" ऐसे कितने लोग हैं जो कहते हों कि "मैं तुमसे घृणा करता हूँ, तुम भी मुझसे घृणा करो।"

"मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।" का भाव यह है कि 'तुम भी मुझसे प्रेम करो।' यह भाव कितना अकथ है! दुनिया की सभी भाषाओं में प्रेम कहानियाँ खूब लिखी गयी हैं और लिखी जा रही हैं। जो लोग लेखक नहीं हैं, वे भी प्रेम को खूब अभिव्यक्त करते हैं। जहाँ प्रेम नहीं है वहाँ भी प्रेम के झूठे दावे किये जाते हैं जबकि घृणा को सजह भाव से अभिव्यक्त न करके उसे अपने मन के भीतर खूब पाला-पोषा जाता है। कई बार घृणा को छिपाने के लिए उसके ऊपर प्रेम के कृत्रिम रंग पोत दिये जाते हैं, फिर अकथ कहानी घृणा की क्यों नहीं हो सकती?

दरअसल, प्रेम को ही सबसे बड़ा अकथ बना दिया गया है जबकि प्रेम से भी बड़ा अकथ है–'सत्य'। यदि हम अकथ कहानी सच की कहने लगें तो स्पष्ट हो जाएगा कि प्रेम और घृणा ही नहीं बल्कि विषमता, अन्याय और अत्याचार की कहानी भी अकथ रह जाती है। प्रेम की कहानी तो अकथ रह जाती होगी जबकि विषमता, अन्याय और अत्याचार की कहानी को अकथ बनाने का प्रयास पूरे मनोयोग से किया जाता है। जब किसी व्यक्ति अथवा समुदाय के साथ भेदभाव होता है और उसे न्याय नहीं मिलता। वह चीख-चीख कर कहता है कि उसे न्याय नहीं मिला। उसकी चीख को सुनने के बजाय उसकी न्याय पाने की उम्मीद को ही तोड़ने का प्रयास किया जाता है। 'पीड़ितों की न्याय पाने की उम्मीद' जब हमारी उत्सवधर्मिता में खलल डालने लगती है अथवा हमारी 'आत्मा' को जगाने का प्रयास करती है तो न्याय की उम्मीद रखने वाले समुदायों अथवा व्यक्तियों का हाशियाकरण करके उनके विरुद्ध घृणा का प्रचार किया जाता है, उनका उपहास किया जाता है ताकि न्याय की उम्मीद को भी अकथ बनाया जा सके। सत्य को निर्वासित किया जा सके। विषमता, अन्याय और अत्याचार की मार से कभी-कभी व्यक्ति ही नहीं समुदाय भी 'थेथर' हो जाते हैं। थेथर व्यक्ति और समुदाय अपने

विरुद्ध अथवा पक्ष में खड़ी 'भीड़' की भी परवाह नहीं करते, वे दमन और अन्याय के सामने समर्पण करने के बजाय न्याय की लड़ाई जारी रखते हैं। जब न्याय की लड़ाई को अकथ बनाना मुश्किल हो जाता है तो न्याय की माँग करने और लड़ाई लड़ने वालों को चोर-उच्चका, विक्षिप्त अथवा नक्सली घोषित कर दिया जाता है ताकि उनकी हत्या सुनिश्चित की जा सके।

न्याय की उम्मीद की टूटती चीख भी जिसने नहीं सुनी, वह भी प्रेम के नाम पर बिसूरता है–"मुझको न मिला रे कभी प्यार" घृणा से भरा व्यक्ति भी किसी न किसी के समक्ष दावा करता है–"मैं तुमसे प्रेम करता हूँ" जिसका तात्पर्य यह होता है कि 'तुम मुझसे प्रेम करो' अर्थात् उसे दूसरों से प्रेम चाहिए जबकि दूसरों को देने के लिए उसके पास ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और उपेक्षा है। घृणा से भरा व्यक्ति दूसरों से प्रेम कर नहीं सकता, प्रेम का प्रदर्शन जरूर कर सकता है प्रेम का व्यापार कर सकता है। कुछ पाने की अपेक्षा से किया गया प्रेम का दावा व्यापार ही तो है। कभी-कभी भय के कारण भी प्रेम का प्रदर्शन किया जाता है (भय बिनु होइ न प्रीति) वास्तविकता यह है कि प्रेम और भय दोनों एक साथ नहीं रह सकते, दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। आश्चर्य की बात है कि अधिकांश लोग प्रेम का प्रदर्शन करके एक दूसरे को ठगने का प्रयास करते हैं, सचमुच प्रेम करने की क्षमता उनमें नहीं होती। विषमता, अन्याय और शोषण का पोषक समाज अथवा व्यक्ति कभी प्रेम नहीं कर सकता क्योंकि प्रेम समतामूलक होता है। **विषमता के गर्भ से घृणा का जन्म होता है, जबकि प्रेम का जन्म समता के गर्भ से ही संभव है।**

विषमता और घृणा से मुक्त हुए बिना कोई प्रेम कर ही नहीं सकता। विषमता और घृणा के बीज से जिस समाज का विकास हुआ है, उसमें प्रेम करने की क्षमता ही विकसित नहीं हो पाई। जिस समाज में जातिगत विषमता है, वहाँ दलितों-पिछड़ों के प्रति घृणा भी अवश्य है। जिस समाज में नस्लभेद है, वहाँ काली चमड़ी वालों के प्रति घृणा है। मनुस्मृति का अनुकरण करने वाला जो पुरुषवादी समाज स्त्रियों को पैरों की जूती मानता है तो वह उनसे प्रेम कैसे कर सकता है?

प्रेम करना समता के मूल्य को स्वीकार करना है। जबकि हमारे समाज ने विषमताओं को अपना धर्म माना है अर्थात् तथाकथित धार्मिक समाज में प्रेम की क्षमता विकसित नहीं हुई। यही कारण है कि–

> **"हजारों साल से प्रेम का प्रदर्शन किया जा रहा है, प्रेम कहानियाँ सुनाई जा रही हैं, प्रेम के गीत गाये जा रहे हैं, प्रेम के भजन गाये जा रहे हैं और प्रेम का मनुष्य के जीवन में कोई स्थान नहीं है।**

अगर आदमी के भीतर खोजने जाएँ तो प्रेम से ज्यादा असत्य शब्द दूसरा नहीं मिलेगा।"

ओशो ने सहज भाव से प्रेम को असत्य कह दिया, आप और हम प्रेम को असत्य कहने का जोखिम शायद न उठा सकें लेकिन इस पर तो विचार कर ही सकते हैं कि प्रेम के विषय में हमें क्यों कहना पड़ता है–"मैं सचमुच प्रेम करता हूँ।" इसका अर्थ यही है कि हमें भी पता है कि प्रेम के नाम पर झूठ-फरेब, छल-प्रपंच और पाखण्ड खूब चलता है। इसीलिए हमें कहना पड़ता हैं कि 'मेरा प्रेम सचमुच प्रेम है।' 'सचमुच' शब्द प्रेम के संदिग्ध होने की सार्वजनिक घोषणा ही तो है। इसलिए प्रेम में कसमें खाने वालों से भी सावधान रहना चाहिए। (कसमें, वादे, प्यार, वफा, सब बातें हैं बातों का क्या?) कसम खाने वाले मन के भीतर जो चोर बैठा हुआ है, वह चोर उस कसम से ज्यादा ताकतवर है। इस चोर की ताकत के सामने कोई कसम नहीं टिकती। परसाई ने भी ऐसी सलाह अपने पाठकों को दी है कि जब कोई अपना हृदय अपनी हथेली पर लेकर आपकी तरफ चला आ रहा हो तो सावधान हो जाइए कि आपके ठगे जाने की बारी आ गई है। समझदार लोगों की ऐसी सलाह भी हमारे काम नहीं आती, कसम खाने वालों द्वारा हम अक्सर ठगे जाते हैं। घृणा से भरा हुआ व्यक्ति भी कसम खाकर हमारा प्रेम ठगता है। नेता हमारा वोट ही नहीं ठगता अपितु लोकतंत्र की कसमें खाकर लोकतंत्र को भी ठगता है। तथाकथित संत सबसे पहले अपने भक्तों की भीड़ को ठगता है, उसके बाद ईश्वर (यदि है तो) को भी ठग लेता है... सरकार के विषय में तो क्या कहें सरकार... अकथ ही रहने दिया जाए।

ठगने वालों ने तो कबीर को भी नहीं छोड़ा। जो कबीर जीवन-भर पत्थर पूजने का विरोध करते रहे, उन कबीर की मूर्तियाँ गढ़कर उन्हें भी पत्थर बना दिया। कबीर-मठों के भीतर आपको कबीर नहीं, पत्थर मिलेंगे। कबीर भी बड़े दूरदर्शी थे, उन्हें इन ठगों के चरित्र का अनुमान पहले से ही था, उन्होंने पहले ही ठगों को पहचान लिया था–

हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई।
हरि के वियोग कैसें जीउँ मेरी माई॥
कौन पुरुष को काकी नारी। अभिअंतर तुम्ह लेहु विचारी।
कौन पूत को काको बाप। कौन मरै कौन करै संताप।
कहै कबीर ठग सूँ मनमाना। गई ठगौरी ठग पहिचाना॥

कबीर ने ठगों को पहचान लिया था, इसमें कोई शक नहीं, लेकिन ठगौरी खत्म नहीं हुई, आज भी ठगौरी जारी है। कबीर को भी ठगा जा रहा है–

'अकथ कहानी प्रेम की' मुहावरे का प्रयोग कबीर ने किया था, इस बात से किसी को इंकार नहीं लेकिन यह भी सच है कि कबीर ने भाषा को अक्षम घोषित नहीं किया। उन्होंने तो भाषा की तुलना जीवनदायक नीर, बहते हुए नीर से की है। भाषा रूपी इस नीर ने कितनी ही प्रेम-कहानियों को जीवन दिया। प्रेम-कहानियाँ, प्रेम-गीत और प्रेम के भजन सब भाषा में ही तो गाये जा रहे हैं। प्रेम यदि वास्तविक जीवन में मर जाए तो भी भाषा में सुरक्षित रहता है। वास्तविक जीवन में प्रेम पैदा न हो तो भी भाषा के भीतर प्रेम का जन्म संभव है। यदि भाषा अपने भीतर प्रेम को जन्म दे सकती है, प्रेम कहानियों का संरक्षण और विकास कर सकती है तो फिर भाषा प्रेम को अकथ क्यों बनाएगी, उसे अवरूद्ध क्यों करेगी?

दरअसल, मानव सभ्यता एवं संस्कृतियों ने प्रेम को मानव जीवन से बहिष्कृत किया तो भाषा ने प्रेम को अपने भीतर समेट लिया तत्पश्चात मानव सभ्यता-संस्कृतियों ने प्रेम को अकथ घोषित करके प्रेम का पिण्डदान करने का प्रयास करके स्वयं को प्रेम से मुक्त किया है। प्रत्येक व्यवस्था, प्रत्येक धर्म और संस्कृति सभी चाहते हैं कि अब केवल प्रेम कहानियाँ सुनाई जाएँ, प्रेम-गीत और प्रेम के भजन गाए जाएँ लेकिन कोई 'सचमुच प्रेम' न करे क्योंकि प्रेम स्वभाव से ही विषमताओं के विरुद्ध है जबकि सभी धर्म, संस्कृति और व्यवस्थाओं का चरित्र विषमतामूलक है। इसीलिए सारी सभ्यता-संस्कृतियाँ प्रेम की शत्रु हैं। अतः सबने एकसुर में प्रेम को अकथ घोषित करके दोष भाषा के सिर मढ़ दिया।

'अकथ कहानी प्रेम की' मुहावरे का प्रयोग करने वालों में कबीर जरूर इतने ईमानदार हैं कि वह प्रेम के अकथ होने का दोष भाषा के सिर नहीं मढ़ते। वह बताते हैं कि दरअसल प्रेम का मार्ग इतना विकट है कि हम प्रेम तक नहीं पहुँच पाते और प्रेम हमारे लिए अकथ रह जाता है। प्रेम कोई खाला का घर नहीं है। शीश (अहं) काटकर जमीन पर रखे बिना प्रेम के विकट पंथ पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता–

'लंबा मारग दूरि घर विकट पंथ बहु मार'

प्रेम का मार्ग लंबा और विकट मार्ग है, भक्त कवियों की भक्ति का मार्ग भी लंबा और विकट है। 'अकथ' को कह देना भी उतना ही लंबा और विकट मार्ग है। कबीर को तो पूरा भरोसा था कि वे प्रेम और भक्ति के लंबे और विकट मार्ग पर चलकर अपने ब्रहम् के पास पहुँच जाएँगे। अकथ को कह देने का विकट मार्ग कहाँ पहुँचेगा यह निश्चित नहीं है। हज़ारों साल से मानव सभ्यता ने कितना कुछ अकथ बनाया है! जन-समुदाय के मन रूपी समुद्र (सामूहिक अवचेतन) में कितना बड़ा अकथ दबा हुआ है? हजारों साल से दबा हुआ अकथ कितना विषाक्त हुआ है, क्या

पता? संभव है कि अकथ को कह देने का विकट मार्ग जनसमुदाय के मन रूपी विकट समुद्र तक जाता हो? मिथकों में एक विकट समुद्र-मंथन का प्रसंग मिलता है, जहाँ देवता और दानवों ने मिलकर समुद्र-मंथन किया था, जिसमें विभिन्न रत्न और अमृत के साथ विष भी मिला था। शायद उसी विष के भय से मानव सभ्यता जनसमुदाय के मन रूपी विकट समुद्र में मंथन करने से भी घबराती है। समुद्र-मंथन के बिना सत्य के रत्न और अमृत कैसे प्राप्त हों, यह विकट प्रश्न है। तो क्या सत्य के विष से घबराकर मानव सभ्यता सत्य के रत्न और अमृत भी छोड़ देगी? सामूहिक अवचेतन के समुद्र में दबे रहकर सत्य के रत्न और अमृत भी क्या विषाक्त हो जाएँगे? या फिर सत्य का अमृत इसे भी अमृत बना लेगा?

जिस अकथ प्रेम की कहानियाँ सुनाई जा रही हैं, गीत गाये जा रहे हैं और भजन गाये जा रहे हैं, सामूहिक अवचेतन के समुद्र में दबकर उस प्रेम-रत्न के साथ क्या हुआ है? यह प्रेम-रत्न भी विषाक्त हो गया है, जो बार-बार विद्रूप सेक्स और हिंसा के रूप में प्रकट होता है। दुनिया भर में फैला पोर्नोग्राफी का इतना बड़ा उद्योग इसी का बाइप्रॉडक्ट है। बलात्कार की घटनाएँ, युवतियों के चेहरे पर घृणा का तेजाब फेंकना और प्रेम में हिंसा का होना प्रेम-रत्न के विषाक्त होने के उदाहरण ही तो है। सामूहिक अवचेतन के समुद्र में दबे रत्न और अमृत यूँ ही विषाक्त होने के लिए छोड़ दिए जाएँ? मानव सभ्यता शायद आज भी यही कर रही है। शायद यही कारण है कि आचार्य किस्म के विद्वान ही नहीं बल्कि 'गुरुओं के गुरु गूगल गुरु' ने भी अकथ का अनोखा अर्थ बताया है—''जो कहने योग्य न हो, वह अकथ है।'' ऐसे अनोखे अर्थों के आगे क्या बात करें ...

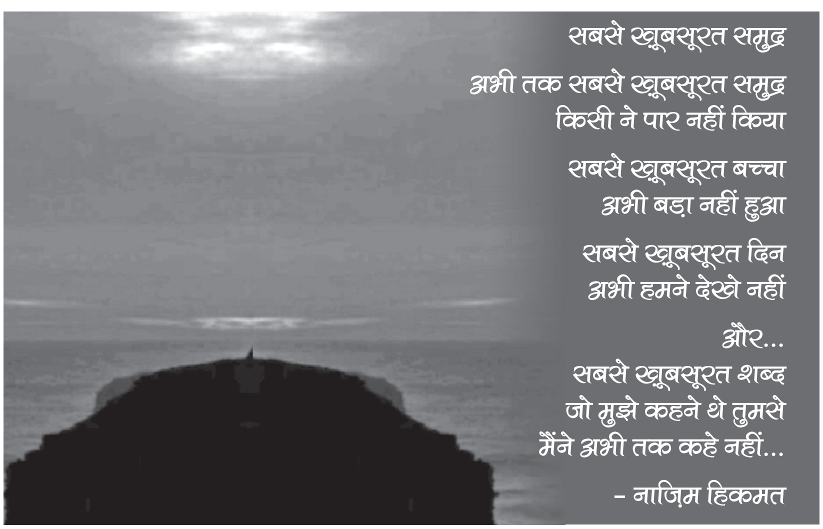

काशी का 'उपसंहार'

आकाश पाण्डेय
बी.ए. (ऑनर्स), हिन्दी, तृतीय वर्ष

काशीनाथ सिंह का चर्चित उपन्यास है–'उपसंहार' जो महाभारत के युद्ध के उपरांत की कथा है। इसके मुख्य नायक हैं–'श्रीकृष्ण' और कथा श्रीकृष्ण के अंतिम दिनों की बयानी है। प्रभु श्रीकृष्ण के सामान्य पुरुष होने की कहानी।

कथाकार शशिभूषण द्विवेदी 'उपसंहार' का पाठ-विश्लेषण करते हुए लिखते हैं 'लोग बिस्तरों पर', 'सुबह का डर', 'आदमीनामा', 'रेहन पर रग्घू', 'काशी का अस्सी' आदि इनकी बहुचर्चित कृतियाँ हैं। अपना मोर्चा का कथाकार 'काशी का अस्सी' तक आते-आते बिल्कुल बेबाक, बिंदास और हँसोड़ में बदल जाता है। लेकिन जो नहीं बदलता वह है सामाजिक सरोकारों को लेकर उनकी प्रतिबद्धता... ।" 'उपसंहार' में भी उनका तेवर बदलते रूप में नजर आया है, गप्पों की भाषा वाले 'काशी' 'दार्शनिक' अंदाज में उत्तर महाभारत की कथा कहते हैं।

'उपसंहार' के विषय में आज की माडर्न e-पत्रिका चर्चा करते हुए लिखती है की, 'काशी' ने 'श्रीकृष्ण' को भगवान से 'इंसान' बनाया। लेकिन सवाल यह है कि भगवान आखिर किस पक्षी का नाम है? स्वयं 'भगवान श्रीकृष्ण' के शब्दों में, भगवान और कुछ भी नहीं मनुष्य के श्रेष्ठतम का प्रकाश ही तो होता है। दार्शनिकता के इन्हीं फटों को घेरे 'उपसंहार' की कथा आगे बढ़ती है।

यशोदा का लल्ला, स्वांग रचते-रचाते समय के साथ-साथ जाने कब 'प्रभु बन गया, 'साजन' से 'राजन' बना 'कूटनीतिज्ञ' बना, श्रीकृष्ण को पता ही नहीं चला 'लल्ला' सुने उन्हें बरस हो गये। श्रीकृष्ण जब 'लल्ला' थे तब उनके दु:ख-सु:ख सबके दु:ख-सु:ख थे। किंतु जबसे 'प्रभु' बने मानो उनके अपने कोई कर ही नहीं। श्रीकृष्ण के इन्हीं दु:खों का ब्यौरा देता है 'उपसंहार'। काशी दद्दा जब 'श्रीकृष्ण' को मनुष्य के कटघरे में खड़ा कर सवाल पूछते हैं तो 'प्रभु' भी कह बैठते है, उपदेश देना बहुत आसान है।"

उपन्यास का आरम्भ महाभारत के 'अट्ठारह' दिनों के भीषण युद्ध के बाद की कहानी कहता है जहाँ श्रीकृष्ण पहली बार द्वारका पधारने वाले हैं किन्तु द्वारिकावासियों के अन्दर 'उमंग' के स्थान पर उदासीनता है। जो श्रीकृष्ण को हर पल सताती है। युद्ध में मारे गये अपनी संतानों का हत्यारा द्वारकावासी कृष्ण को ही मानते हैं क्योंकि 'सन्धि' के तहत श्रीकृष्ण ने अपनी सेना युद्ध के लिए भेजी थीं।

कृष्ण की यह 'संधि' सभी द्वारिकावासियों को खटकती है कि आखिर हमसे पूछे बिना ही सेना को युद्ध में भेजने का निर्णय श्रीकृष्ण कैसे ले सकते हैं। इसी मूल पर युधिष्ठिर से श्रीकृष्ण की तुलना करते हुए बलराम कहते हैं–'उस आदमी ने चाहे जो कुछ दाँव पर लगाया होता, इन्द्रप्रस्थ को तो बख्श दिया होता' (1/39) श्रीकृष्ण का भी यही 'दाँव' उन्हें द्वारिकावासियों की नजरों से गिरा देता है ईश्वर का घमण्ड टूटता है कि वह 'ईश्वर' है आखिर उसे 'ईश्वर' बनाने वाली भी तो प्रजा ही थी।

महाभारत के पूरे युद्ध को सिर्फ और सिर्फ पांडवों-कौरवों के ईर्ष्या-द्वेष और शौर्य के प्रतीक के रूप में देखा गया–राज-काज के भाव से नहीं; धर्मराज युधिष्ठिर क्या इतने बड़े राज्य का कुशल संचालन कर पायेगें इस बात पर कभी किसी ने नहीं सोचा; एक जगह काशी जी लिखते हैं कि "उन स्वर्गीय वीर योद्धाओं की सन्तानें जिनसे उम्मीद की जा रही थी कि वे अपने पिताओं से दो-चार हाथ आगे जाएँगे और अपनी कलाओं से प्रजाजन को चमत्कृत करेंगे वे गोधन, पशुधन और अन्न-धन लूटने में व्यस्त थे।"

'त्रेता' के 'कृष्ण' का यह वर्ग-विरोधी मुखर विरोध कराकर काशी जी 'कलयुगी लोकतांत्रिक व्यवस्था पर भी सवालिया निशान खड़ा करते हैं, क्योंकि वर्ण व्यवस्था की जड़ें अभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं।

'राधा-कृष्ण' का प्रसंग पाठ में लाकर काशी जी आधुनिक स्त्री के रूप को दिखाने का प्रयास करते हैं जो 'लजाने-शर्माने से दूर 'उद्धव-शतक' की विरहणी राधा की तरह 'कृष्ण के प्रेम में आँसू नहीं बहाती बल्कि 'कृष्ण' की याद आने पर खुद उनसे मिलने 'मथुरा' चली आती हैं और कृष्ण से डंके की चोट पर कहती है "मैं यहाँ चोरी-छिपे नहीं आई हूँ। आई हूँ ढिढोरा पीटकर। माई-बाबू, नीरन-बहन, सबकी आँखों के सामने।"

अन्तत: काशी जी जिस सवाल में खुद उलझते नजर आते हैं कि 'कर्ण' वध आवश्यक था या नहीं–एक स्थान पर श्रीकृष्ण सोचते है कि देखो! जब हम सिर्फ दो भाई थे और मथुरा छोड़कर द्वारका बसा सकते थे, तो तुम तो पाँच थे और उसमें भी भीम जैसे...। नहीं, दुर्योधन के अनैतिक और राजगद्दी के प्रति लोभी होने के कारण प्रजा की बदहाली पर विचारते हुए कृष्ण युद्ध को लाजमी मानते हैं, क्योंकि अगर युद्ध नहीं होता तो, "ऐसा राज्य जरासन्ध के मगध से भी बुरा होता।"–बात यही नहीं खत्म होती क्योंकि युद्ध किसी भी बहस का विकल्प नहीं होता। शांति और समझौते के आधार पर भी प्रजाहित के विषय में सोचा जा सकता है। युद्ध शायद क्रोध व अहंकार का परिणाम होता है, जिसके फलस्वरूप एक बार महाभारत में 'इन्द्रप्रस्थ' रक्तरंजित हुआ था और 'उपसंहार' में स्वयं श्रीकृष्ण की 'द्वारका'।

निष्कर्षतः सहज, सरल एवं सपाट भाषाशैली पर लिखी गयी यह उत्तर महाभारत की कथा, सिर्फ प्रभु कृष्ण को सामान्य रूप में ही नहीं देखती बल्कि 'प्रभु' के दुःखों के बहाने पूरे महाभारत के दशा-दिशा पर विचारती हैं, जिसे सदियों से अनदेखा किया जाता रहा है।

कुछ तो

कुछ तो हो!
कोई पत्ता तो कहीं डोले
कोई तो बात होनी चाहिए अब जिन्दगी में
बोलने में समझने-जैसी कोई बात,
चलने में पहुँचने-जैसी
करने में हो जाने-जैसी कोई तरंग
या मौला, क्या हो रहा है यह
ओंठ चल रहे हैं लगातार
शब्द से अर्थ खेलते हैं कुट्टी-कुट्टी
पर बात कहीं भी नहीं पहुँच पाती।
जो देखो वो है सवार
कोई किसी के कंधे पर
कोई ऐन आपके ही सिर
सब हैं सवार
सब जा रहे हैं कहीं न कहीं
कहीं बिना पहुँचे हुए!
जैसे कि जार निकोलाई ने
ज़ारी किया हो कोई फ़रमान।
जो भी किसान दे नहीं पाए हैं लगान
जाएँ वह न जाने कहाँ
लायें उसे न जाने कैसे।
क्या लाने निकले थे घर से हम भूल गए
कुट्टी-कुट्टी खेलते से मिले हमको
मिट्टी से पेटेंटिड बीज!
वहीं कहीं मिट्टी में
मिट्टी-मिट्टी से हुए सब अरमान
होरियों ने गोदान के पहले
कर दिया आत्मदान
आत्महत्या एक हत्या ही थी
धारावाहिक!

सुदूर पश्चिम से चल रहे थे अग्नि बाण :
ईश्वर-से अदृश्य
हर जगह है ट्रैफिक जैम
सड़कों से टूट गया है
अपने सारे ठिकानों का वास्ता।
सदियों से बिलकुल खराब पड़े
घर के बुजुर्ग लैंडलाइन की तरह
हम भी दे देते हैं गलत-सलत सिग्नल
कोई भी नंबर लगाए
कहीं दूर से
तो आते हैं हमसे
सर्वदा ही व्यस्त होने के
कातर और झूठे संदेशे!
काहे की व्यस्तता!
कुछ तो नहीं होता
पर रिसीवर ऑफ हो
या कि टूट गया हो बिजी कनेक्शन
सार्वजानिक बक्से से
तो ऐसा होता है, है न-
लगातार आते हैं व्यस्त
होने के गलत सिग्नल
कुछ तो हो!
कोई पत्ता तो कहीं डोले!
कोई तो बात होनी चाहिए जिन्दगी में अब!
बोलने में समझने- जैसे कोई बात!
चलने में पहुँचने- जैसी
करने में कुछ हो जाने -जैसी तरंग !

अनामिका
साभार

'कफन' की शवयात्रा वाया दलित विमर्श

ज्योति
बी.ए. (ऑनर्स), हिन्दी, पूर्व छात्रा

दलित साहित्य में लंबे समय से यह बहस छिड़ी हुई है कि किसके द्वारा लिखा गया साहित्य, दलित साहित्य कहलाएगा।

सामान्यत: कहा जाता है कि एक गैर दलित लेखक भी उत्कृष्ट दलित साहित्य लिख सकता है, और एक दलित लेखक के लेखन में भी कुछ इतर संदर्भ हो सकते हैं, जो पाठक को उसके प्रति सहानुभूति के स्तर पर न जोड़ पाएँ।

प्रश्न यह है कि क्या केवल सहानुभूति एकत्र करना ही दलित साहित्य का उद्देश्य है? दलितों और पिछड़ी जातियों के साहित्य में केवल उनकी हीनता, उनकी पीड़ा तथा समाज का उनके प्रति दृष्टिकोण ही केन्द्र में क्यों है?

अक्सर कहा जाता है कि यदि दलितों की सामाजिक स्थिति और दशा को समझना हो तो दलित साहित्य पढ़ो। पर क्यों? दुनिया को अपनी हीनता के प्रति उन्मुख करना ही दलित साहित्य का कार्य है? या फिर उन्हें इसके प्रति विचारवान-संवेदनशील बनाना भी है।

अक्सर लेखकों का दृष्टिकोण सहानुभूति और स्वानुभूति के पुल पर आकर अटक जाता है। यह उसी प्रकार है कि जिस तरह से एक 'पैक्ड गिफ्ट' होता है जो देखने वाले को सिर्फ बाहर से दिखाई देता है किन्तु खोलने वाले को पता रहता है कि उस 'पैक्ड गिफ्ट' में वास्तविकता में क्या है?

प्रेमचंद का 'कफन' उसी 'पैक्ड गिफ्ट' की तरह है जो दलितों की स्थितियों को बाह्य रूप में दर्शाता है।

प्रेमचंद का 'कफन' न तो पूर्णत: व्यंग्य बन पाया है न ही पूर्णत: दलित पक्षधर।

'कफन' दलित साहित्य की कहानी से अधिक भूख और उसके अंतर्विरोधों की कहानी अवश्य नज़र आती है प्रेमचंद 'घीसू' और 'माधव' को कामचोर, संवेदनहीन तथा ढीठ दिखाकर किस समाज पर व्यंग्य कर रहें हैं, यह समझ नहीं आता है।

प्रेमचंद का समर्थन करने वाले बहुत से विद्वान 'कफन' के संबंध में कहते हैं कि प्रेमचंद उनकी इस स्थिति के द्वारा हजारों वर्षों से हो रहे शोषण और अत्याचार का परिणाम दर्शाते हैं कि वे पात्र अपने शोषण के कारण संसार के संबंधों से

अनासक्त हो गए हैं, बेपरवाह हो गये हैं और इतने निष्ठुर हो गए कि 'कफन' के लिए दिए गए पैसों की शराब और चखना खा जाएँ। यह स्थिति दयनीय कम हास्यस्पद अधिक लगती है।

प्रेमचंद के कथ्यों में समाज केन्द्र में होता है और पात्र उसके इर्दगिर्द घूमते हैं किन्तु 'कफन' में पात्र केन्द्रमयी हैं और समाज उसके इर्द-गिर्द घूम रहा है।

यदि प्रेमचंद समर्थक लेखकों और विचारकों की सुनी जाए और इस कहानी को दलित साहित्य के अंतर्गत रखा जाए तो यह दुविधा-जनक प्रतीत होता है क्योंकि 'कफन' से वह समाज गायब है जो शोषक है, जो अत्याचारी है इसके विपरीत इसमें वह समाज है जो बहुत ही दयालु है जो बुधिया के प्रसव में उसे देखने तक न आता हो लेकिन उसके गुज़र जाने पर चंदा देने अवश्य आया है।

कफन को सारगर्भित कहानी समझने पर भी उसकी अर्थ व्यंजनाओं में झोल है।

'चमारों का कुनबा है' यदि यह वाक्य कफन से हटा दिया जाए तो 'कफन' कहानी कहीं भी दलित कहानियों की श्रेणी में नहीं आती। यह वाक्य ही है जो, दलित कहानी के लेवल की तरह चिपकाया गया है।

इस कहानी को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचंद ने यह कहानी सामान्य कहानियों की तरह लिखी है परन्तु कुछ सोचकर इस कहानी में 'चमारों का कुनबा' जोड़कर सिद्ध कर दिया कि यह दलित उद्धार की कहानी है।''

यही वाक्य इसे दलित विरोधी कहानी भी सिद्ध करता है 'घीसू' और 'माधव' के व्यक्तित्व में व्याप्त विसंगतियाँ किसी भी वर्ग या जाति के व्यक्ति में हो सकती हैं। सामान्य पात्र को दलित पात्र बनाकर प्रेमचंद ने एक विवाद को जन्म दिया और उसे भुनाया।

पात्रों के नाम भी उसकी बुनावट में अहम भूमिका रखते है। पता नहीं लेखकों के जहन में घीसू, बुधिया, दुखिया जैसे नाम ही क्यों घर करते हैं! शायद भद्र नामों का प्रचलन दलितों के व्यक्तित्व में और समाज में शोभित नहीं होते या सवर्ण संस्कृति उन्हें 'राम' 'परशुराम' जैसे नाम रखने से रोकती है।

'कफन' के पात्रों में व्याप्त हीनता, निम्न स्तर में व्याप्त आर्थिक त्रासदी को प्रस्तुत करती है। अगर प्रेमचंद ने इन्हें दलित पात्रों के बजाय समान्य पात्रों की तरह दर्शाया होता तो 'कफन' केवल भुखमरी और संत्रास के अलावा कुछ नहीं होती।

कफन के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि तथाकथित उच्चवर्ग के लोगों के लिए यह एक दलित कहानी हो सकती है क्योंकि उन्होंने कभी जातीय अपमान के दंश को अनुभव नहीं किया। यहाँ यह कहना ठीक बैठता है कि जिस प्रकार

किसी लाचार को देखकर समाज 'हाय! बेचारा' कहकर उसकी लाचारी को और बढ़ा देता है उसी प्रकार वह पाठक जन जो दलित साहित्य से अभी तक विमुख हैं, कफन को पढ़कर उसे दलित कहानी समझकर उन्हें 'हाय! बेचारे' की स्थिति में पहुँचा सकते हैं।

परन्तु जाति और भुखमरी के दंश को झेलने वाला समाज इसे दलित कहानी के रूप में स्वीकार नहीं करेगा। तथ्यात्मक रूप से देखा जाए तो दलित कहानी के संदर्भ में ओम प्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी अपने कथ्य में सहानुभूति को स्वानुभूति में तब्दील कर देती है।

जहाँ कहानी के पात्र कमल उपाध्याय का सरनेम 'उपाध्याय' भी उसके अस्तित्व का परिचय नहीं दे पाता और वह भी उसी हीनता और नफरत को बेहद करीब से अनुभव करता है। यह अनुभूति सही मायनों में उसे 'हीन' और 'शूद्र' होने का अर्थ समझाती है।

जिस सहानुभूति के आधार पर वह सबसे यह कहता आया कि 'अब ये सब नहीं होता अब छुआछूत की समस्या समाज में नहीं हैं। हम जाति को नहीं मानते... वही सहानुभूति उसे उसके तथाकथित उच्च समाज का असली चेहरा दिखाती है। कहा जाता है कि–

जाके पाँव न फटी बिवाई। वो क्या जानै पीर पराई'।।

इस दोहे का अर्थ 'सलाम' कहानी बेहद सटीक अर्थो में बताती है।

'कमल' जो समानता का आदर्श लिए अपने दोस्त के विवाह में शामिल हुआ था, वह भी चाय वाले की बातों और व्यवहार से चोटिल होकर अपने 'सरनेम' पर जोर देकर उसे बताता है ''हाँ कलयुग आ गया है, सिर्फ तुम्हारे लिए, तुम अपनी जात नहीं बताना चाहते हो तो सुनो–मेरा नाम कमल उपाध्याय है। उपाध्याय का मतलब तो जानते ही होगे या समझाऊँ... उपाध्याय यानी ब्राह्मण।''

इस कथन के द्वारा प्रश्नचिन्ह् व्यक्ति के अस्तित्व पर है। चाहे व्यक्ति कितना भी सैक्यूलर और क्रान्तिकारी हो जाए समाज में आज भी व्यक्ति की अपनी पहचान का परिचायक 'जाति' ही केन्द्र में है।

कमल उपाध्याय केवल चाय पीने के लिए अपना सरनेम नहीं बताता बल्कि वह सरनेम से जातीय श्रेष्ठताबोध का परिचय देता है।

अंत में ओम प्रकाश वाल्मीकि एक छोटे बच्चे के व्यवहार का परिचय देते हुए भावी पीढ़ी में बढ़ रही संकीर्णता और विकसित हो रही मानसिक विकृति को उजागर करते हैं जो यह दिखाता है कि छूआछूत में एक वर्ग या दो वर्ग ही इसके शिकार नहीं होते बल्कि जिस प्रकार पौधे में कीड़े लगने पर वह केवल पत्ते या

फूल ही नहीं खाते बल्कि जड़ भी समाप्त कर देते हैं उसी प्रकार भावी पीढ़ी के रूप में जड़ ही विकृत और कुंठित हो रही है।

सहानुभूति के धरातल से ऊपर उठकर जब हम स्वानुभूति के पथ पर आते हैं तो दलित कहानियों में सर्वप्रथम ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'शवयात्रा' और 'सलाम' आती हैं। जहाँ एक तरफ प्रेमचंद की 'कफन' एक विचलन पैदा करती है तो वहीं 'शवयात्रा' और 'सलाम' पाठक को विचारवान बनाने के साथ-साथ 'दलित होने का मतलब' भी समझाती हैं। जो पाठक, कफन के घीसू और माधव की स्थिति से तथाकथित नीची जातियों के दुख की एक भूमिका भर समझते हैं वहीं शवयात्रा से उसके वास्तविक अनुभूति को ग्रहण करते हैं....

'शवयात्रा' के माध्यम से सामाजिक स्थितियों को परत-दर-परत उठाया गया है, जहाँ दलितों में भी दलित हैं। दलितों में भी आंतरिक विषमता और भेदभाव है।

समाजिक व्यवस्था एक सोच की परिणति है जिस प्रकार का व्यवहार सवर्ण निम्न वर्ण के लोगों के प्रति रखते हैं वही व्यवहार दलित भी दलित से करता है। 'छुआछूत का व्यवहार केवल सवर्णों तक सीमित नहीं है बल्कि यही बीमारी तथाकथित निम्न वर्गों के दिमाग में भी है।

यहाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन सटीक बैठता है।

''हर जाति अपने से नीची की जाति खोज ही लेती है।''

दलितों में व्याप्त आंतरिक विषमता और भेदभाव की अभिव्यक्ति शवयात्रा में इस प्रकार मिलती है-

''चमारों का शमशान गाँव के निकट ही था लेकिन बल्हारों को उसमें अपने मुर्दे फूँकने की इजाज़त न थी''।

'शवयात्रा' कहानी की शुरूआत 'चमारों के गाँव में बल्हारों का एक परिवार था, जो जोहड़ के पार रहता था। चमारों और बल्हारों के बीच एक सीमा रेखा की तरह था जोहड़।

यह पूरा कथन दलितों के बीच की शवयात्रा में सामाजिक व्यवस्था तथा उसके तंत्र को दिखाता है जिसे पढ़कर यह समझने में देर न लगती कि यह परिवार ''चमारों में भी सबसे निम्न वर्ग का चमार है''

यहाँ वही स्थिति व्याप्त है जो एक विस्तृत फलक पर सवर्ण और तथाकथित निम्नवर्ग की होती है।

यहाँ 'जोहड़' को दलितों के आंतरिक भेदभाव की सीमारेखा के रूप में समझा जा सकता है। जो इनके बीच एक गहरी खाई के रूप में विद्यमान है जो 'बल्हारों' को रेखांकित कर रही है। वह बल्हार जो जोहड़ के पार रहता है।

'शवयात्रा' कहानी वर्ण व्यवस्था में व्याप्त क्रूरता की कहानी है जहाँ प्रत्येक वर्ण में एक वर्ग है और प्रत्येक वर्ग में भी एक वर्ण व्याप्त है। जो उन्हें अपनी ही जाति में अछूत बनाता है वह यह दिखाता है कि एक गरीब सवर्ण, अमीर अवर्ण से भी स्वयं को उच्च मानता है उसी प्रकार एक गरीब अवर्ण भी अपने ही वर्ण की अन्य जाति (निम्न) के सम्पन्न परिवार से स्वयं को श्रेष्ठ मानता है।

आर्थिक समृद्धि जातीय हीनता को दूर नहीं कर पाती। आर्थिक प्रतिष्ठा का तिलक अपने माथे पर सजाकर भी व्यक्ति जाति के दागों से मुक्त नहीं हो पाता।

हिन्दू धर्मग्रंथों के अनुसार किसी व्यक्ति की 'शवयात्रा' में सम्मिलित होने को पुण्य माना गया है किन्तु 'शवयात्रा' में हिन्दू धर्म के तथाकथित दलित इस मृत्यु शोक में ही हैं, दलितों के दलित तो एक ट्रॉमा में हैं।

शवयात्रा में.... 'चमारों का शमशान गाँव के निकट ही था लेकिन बल्हारों को उसमें अपने मुर्दे फूँकने की इज़ाजत न थी'

वाल्मीकि जी की कहानी का यह कथन समाज में फैली मानसिक विद्रूपता को दर्शाता है जहाँ जीवन के अंत का भी मजाक बनाया जाता है साथ ही उन दलित वर्गों पर भी सवाल खड़ा करता है जो अपने ऊपर हुए अत्याचारों का रोना रोते हैं लेकिन शोषक शक्तियों और ब्राह्मणवादी व्यवस्था का अनुकरण भी करते हैं।

कल्लन ने काफी कोशिश की थी। वह रविदास मंडल, डॉक्टर अम्बेडकर युवक सभा के लोगों से जाकर मिला था। लेकिन कोई साथ आने को तैयार नहीं था। किसी न किसी बहाने वे सब कन्नी काट गए थे।

यहाँ वाल्मीकि जी उस तथाकथित प्रगतिवादी समाज पर तमाचा मारते हैं जो अम्बेडकर और दलित रैलियों का सहारा लेता है। जबकि वास्तविक धरातल पर वह भी उसी मानसिकता का शिकार है जो तथाकथित सवर्णों में व्याप्त है।

उनका यह कथन देश की व्यवस्था की एक नई तह को खोलता है जहाँ डॉ. अम्बेडकर के कार्य उनके लक्ष्य पर बड़े-बड़े व्याख्यान देने वाले सभापति तथा उनकी सभाएँ केवल बाहरी तौर पर बाबा साहब के विचारों से प्रेरित हैं आंतरिकता में वह भी विद्रूप हैं।

व्यक्ति को उसकी नाकामयाबी कम तोड़ती है किन्तु दूसरों से की हुई आशा अधिक तोड़ती है उसका मोहभंग करती है उसमें वितृष्णा भरती है। 'शवयात्रा' कहानी इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है जो परिणाम भी है और प्रमाण भी।

जो समाज एक तरफ तथाकथित सवर्णों तथा वर्ण-व्यवस्था की आलोचना करता है वहीं दूसरी तरफ उसी के पदचिन्हों पर चलता है। जहाँ एक बच्ची के शव का संस्कार करने में उनकी तथाकथित जात चली जाएगी।

पूरे संसार में कोई सबसे अधिक कमजोर है तो वह है स्त्री.. वस्तु कहना इसलिए उचित जान पड़ता है क्योंकि समाज का सबसे अधिक कमजोर तबका भी अपना जोर अपनी स्त्री पर ही दिखाता है उसका काम बाहरी वस्तु के रूप में रह जाता है जो यह दिखाता है कि भले ही वह बाहर किसी अन्य समूह, वर्ग या एक तुच्छ व्यक्ति से पिट कर आया हो किन्तु उसका सारा जोर स्त्री पर ही निकलेगा जो यौन हिंसा के रूप में हो सकता है और साथ ही आमतौर पर होने वाली पिटाई के रूप में परन्तु शवयात्रा में यह स्थिति बदलती है। बदलती इसलिए नहीं है कि लेखक क्रांतिकारी पात्र गढ़ रहा है बल्कि इसलिए क्योंकि वह घटना समय की माँग है जहाँ वह बेबस भी हैं और लाचार भी।

'स्त्रियों के शमशान जाने का रिवाज बल्हारों में नहीं था। लेकिन संतो और सरोज के लिए इस रिवाज में कुछ बचा ही नहीं था को तोड़ देने के अलावा कोई और रास्ता नहीं बचा था।'

कुछ परंपराएँ समाज और व्यक्ति दोनों को कुंठित बनाती हैं। एक जंजीर या सीकड़ का निर्माण करती हैं जिसमें बँधे रहना आवश्यक नहीं होता परन्तु हम रहते हैं जिसे आज के दौर में 'फैशन' कहते हैं।

वाल्मीकि जी उस 'फैशन' वाली व्यवस्था को सीधा यथार्थ के धरातल पर उतार देते हैं जहाँ व्यक्ति और परंपरा का भेद खत्म हो जाता है और वह उस स्थिति में पहुँच जाते हैं जो कहीं दूर क्षितिज में समाहित हो जाती है। युग की अपेक्षा लेखक अपने-अपने दौर में महान रहे हैं, उनकी तुलना अवांछनीय है। किन्तु तुलनात्मक अध्ययन उस युग की विशेषताओं तथा खामियों को रेखांकित करता है इसलिए यह आवश्यक हो जाता है।

प्रेमचंद कथा सम्राट थे और उनकी उपाधि सदैव बनी रहेगी। उनका कथा संसार में सदैव ऊँचा है यह स्वीकारना अतिश्योक्ति न होगी। प्रेमचंद का संसार अपनी कर्मभूमि में कर्मठ है वहीं सेवाभाव में आत्मलीन है। समाज के हर पहलू को उठाते लेखक (प्रेमचंद) अपने हर केन्द्रीय कथानक में उत्कृष्ट है। उनकी रचनाएँ साहित्य खासतौर पर हिन्दी साहित्य में दर्पण का कार्य करती तो है साथ ही मशाल भी बनती है। कथाकार अपने कार्य के प्रत्येक विभाग में सफल है। इनके यहाँ प्रत्येक वर्ग अपनी बात रख रहा है।

दलित साहित्य की बात की जाए तो प्रेमचंद यहाँ भी अपनी कथा सम्राट की छाप छोड़ते चलते हैं। ठाकुर का कुँआ, मोटे राम शास्त्री, इत्यादि कहानियाँ दलित सहित्य की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं किन्तु मेरे अनुसार कफन को इस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि कफन दलित चेतना से अधिक भुखमरी, संत्रास तथा मनुष्य की विसंगतियों की कथा अधिक है।

ओम प्रकाश वाल्मीकि का कथा संसार दलित अवधारणा में सीमित है परन्तु उसका विस्तार अत्यधिक है। प्रेमचंद की कफन को देखा जाए तो वह तब लिखी जा रही है जब दलित अवधारणा की शुरूआत है लोगों तथा लेखकों में उसकी सुगबुगाहट ही है साथ ही उस समय में है जब यह विकृति भारत में पसरी हुई थी फिर भी कफन में उस पर जोर नहीं दिया गया जिस रूप में वाल्मीकि जी की सलाम, शवयात्रा पच्चीस चौका डेढ सौ जैसी कहानियाँ करती हैं, जबकि ये कहानियाँ आजादी के बाद लिखी गईं वह भी प्रेमचंद के समय के लगभग 50 वर्ष बाद लिखा गया जहाँ स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता की पहल भी चल पड़ी थी सम्भवतः इसे सहानुभूति और स्वानुभूति के संदर्भ के रूप में देखा जा सकता है।

'राख के जले जाने का दर्द' पवन द्वारा महसूस नहीं किया जा सकता।...

निःसंदेह प्रेमचंद जैसा व्यक्ति दुबारा नहीं हो सकता न ही वैसा कृतित्व ही किन्तु सहानुभूति पर स्वानुभूति ही जीतती है, यह प्रत्यक्ष है और प्रखरता के साथ कहा जा सकता है।

बात यह है

बात
न उत्तराखंड की है
न झारखंड की
बात
दल-बदल की भी नहीं है
और न किसी मजहब या धर्म की।

बात दलितों के पढ़-लिखकर-
आगे बढ़ने की भी नहीं है
न बात है
खेल के मैदान में उनके
बाजी मारने की।

बात
मन्दिर के-
पुजारी बनाने की भी नहीं है
न बात है
पहली ईंट-
शूद्र के हाथों रखने की।
बात सत्ता के खेल की भी नहीं है
न उसका सुख भोगने की।

बात है
'दलित साहित्य' की
कहीं देश की शोषित जनता
जो
हजारों वर्षों से
पौराणिक कथाएँ सुन-सुनकर
सोई पड़ी है
सच्चा साहित्य पढ़कर
जाग जाए
बन्द कमरे में लिखे 'गप्पी साहित्य' की–
धज्जियाँ न उड़ जाए!

– सूरजपाल चौहान

साभार

फालतू सामान

अश्विनी कुमार यादव
बी.ए. (ऑनर्स), हिन्दी, पूर्व छात्र

सम्भवत: प्रत्येक लेखक, कवि आलोचक या यूँ कह लें कि प्रत्येक रचनाधर्मी अपने काव्य की जो विषय वस्तु लेता है, उसमें उसके अनुभव भी शामिल होते हैं। सभी रचनाधर्मी अपने काव्यों और पात्रों के माध्यम से अपने आस-पास घटित होने वाली घटनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। ऐसा नहीं है कि सिर्फ वे स्वयं को ही अभिव्यक्त करते हैं। वरन उसमें उसकी मौलिक कल्पनाएँ भी निहित होती हैं। वैसे भी जब भी किसी रचनाधर्मी में अनुभव की निजता आ जाती है तो वह और भी संवेदनशील हो जाता है।

इस दृष्टि से भीष्म साहनी के कहानियों और उपन्यासों में उनके अनुभव संसार का एक विस्तृत रूप देखने को मिलता है। जिसमें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक राजनीतिक और पारिवारिक आदि विषयों का समायोजन है। यही कारण है कि भीष्म साहनी की कहानियाँ अपनी यर्थाथता के साथ पाठकों के सामने आती हैं और यर्थाथता के कारण ही इनके पात्र भी समाज के यर्थाथ पात्रों के रूप में जिंदा-दिली से लक्षित होते हैं साथ ही साहनी के पाठकगण भी उनकी कहानियों में अपनेपन का एहसास कराते हुए पात्रों के प्रति अपनी पूरी स्वानुभूति और सहानुभूति के आधार पर उनसे जुड़ते हैं।

'चीफ की दावत' कहानी साहनी की बहुचर्चित कहानी है। वैसे इस कहानी के मूल में लेखक के निजी अनुभव है। कहानी के केन्द्र में एक ऐसी समस्या को उभरा गया है जो मानवीय सम्बन्धों को तार-तार करती है। समाज में किस प्रकार मानवीय और आत्मीय सम्बन्ध उपयोगिता के आधार पर देखे व माने जा रहे हैं। मानवीय संबंधों पर उपयोगीतावादी दृष्टि हावी है यह उपयोगिता दो प्रकार की हो सकती है। पहली 'उपयोग' और दूसरी स्टेटस (Status)। ठीक वैसे ही जैसे एक हजार और पाँच सौ के नोट (Currency) चलन में रहते हुए व्यक्ति के लिए उपयोगिता और स्टेटस (Status) दोनों दृष्टि से उपयोगी हैं। परन्तु नोट बन्दी के बाद वही उपयोगी नोट सिर्फ कागज की रद्दी मात्र रह गये ठीक इसी प्रकार समाज में मानवीय सम्बन्ध (यहाँ तक माँ जैसा पवित्र आत्मीय सम्बन्ध) भी आज उपयोगिता और (Status) के आधार पर देखे जा रहे हैं। इसी जटिल समस्या पर 'चीफ की दावत' कहानी समाज पर गहरी चोट करती है। यह कहानी आज भी उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी कभी अपने दौर में थी। यह कहानी खासकर मध्यवर्गीय

परिवारों की विसंगतियों और उनके चारदिवारी के अन्दर बंद खोखले मानवीय संबंधों को बेनकाब करती है।

'चीफ की दावत' कहानी में मिस्टर श्यामनाथ अपनी पदोन्नती की लालसा से अपने घर पर चीफ (Chief) की दावत रखता है। चीफ की इस दावत पर श्यामनाथ के सामने आने वाली सबसे बड़ी समस्या है उसकी स्वयं की अनपढ़ माँ। एक माँ हमेशा अपने पुत्र के लिए शुभकामनाएँ करती है। परन्तु पुत्र अपने पैरों पर खड़े होने के बाद अपनी माँ को घर का एक फालतू सामान मात्र समझता है। अर्थात माँ रद्दी वस्तु बन जाती है।

श्यामनाथ अपनी शोभा के लिए जिस प्रकार घर की वस्तुओं की सफाई, मरम्मत कर उन्हे ठिकाने पर लगाने में लगा रहता है। ठीक उसी प्रकार वह अपने सबसे आत्मीय सम्बन्ध 'माँ' को भी एक फालतू वस्तु से ज्यादा कुछ भी नहीं मानता।

"आखिर पाँच बजते-बजते तैयारी मुकम्मल होने लगी। कुर्सियाँ, मेज, तिपाइयाँ, नैपकिन, फूल सब बरामदे में पहुँच गए। ड्रिंक का इंतजाम बैठक में कर दिया गया। अब घर का फालतू सामान आलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी श्यामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गई, माँ का क्या होगा?"

वैसे 'चीफ की दावत' उस दौर की कहानी है, जब संयुक्त परिवार विघटित होने शुरू हो गए थे और खासकर मध्यवर्गीय परिवारों के सामने यह विघटन बड़ी समस्या है। इस दौर के मध्यवर्गीय परिवारों में तमाम प्रकार की विसंगतियाँ जन्म ले चुकी थीं, जिसमें कुण्ठा, संत्रास, अकेलापन, छल-कपट आदि। भीष्म साहनी से पूर्व प्रेमचंद की कहानियों में इस परिवारिक टूटन की आवाजें आनी शुरू हो गई थीं। पर प्रेमचंद की कहानियों में परिवारिक विघटन अपनी चरम सीमा पर नहीं है। वहाँ अंत तक परिवार से जुड़ने की ललक दिखाई देती है। पर भीष्म साहनी की कहानियों में यह विघटन निम्न रूप में है। इस विघटन की दरारों पर किसी आदर्शवाद की चादर लेखक ने नहीं डाली है। भीष्म साहनी श्यामनाथ जैसे लाचार पात्रों को बेनकाब करते हैं। श्यामनाथ जब अपने माँ रूपी वस्तु को कहीं जल्द से जल्द ठिकाने लगाने में असमर्थ महसूस करता है, तो वह घर के सजावटी समानों की सजावट पर ध्यान देते हुए आज्ञारूपी लहजे में कहता है–

"खूंटियाँ कमरों में कहाँ लगाई जाएँ, बिस्तर कहाँ पर बिछे, किस रंग के पर्दे लगाए जाएँ, श्रीमती कौन सी साड़ी पहने, मेज किस साईज की हो... श्यामनाथ को चिंता थी कि अगर चीफ का साक्षात्कार माँ से हो गया, तो कहीं लज्जित नहीं होना

पड़ें। माँ को सिर से पाँव तक देखते हुए बोला–तुम सफेद कमीज और सलवार पहन लो, माँ! पहन के आओ तो जरा देखूँ।"

यह समाज की कितनी बड़ी बिडम्बना है कि एक माँ और पिता अपने पुत्र के उज्ज्वल भविष्य और उनके आदर्श चरित्र और सफलता के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तत्पर रहते हैं। पर एक पुत्र अपनी सफलता के बाद माँ के कर्तव्य को नकार कर उसे समाज के सामने प्रस्तुत करने में असहजता महसूस करता है। वैसे एक बात सत्य ही है कि व्यक्ति अपनी सच्चाई सुनकर तिलमिला जाता है और कड़वी सच्चाई सुन बेकाबू हो जाता है। एक माँ अपने पुत्र की पढ़ाई–लिखाई और सफलता के लिए अपना जेवर तक गिरवी रख देती है। वहीं वह सच्चाई की क्षोभ से भरने की जगह तिलमिला उठता है–

"चलो ठीक है। कोई चूड़ियाँ–बूड़ियाँ, तो वह भी पहन लो कोई हर्ज नहीं।

चूड़ियाँ कहाँ से लाऊँ बेटा? तुम तो जानते हो, सब तुम्हारी पढ़ाई में बिक गए।

यह वाक्य श्यामनाथ को तीर की तरह चुभा। तिनक कर बोला–यह कौन–सा राग छेड़ दिया, माँ! सीधा कह दो नहीं है, बस! इससे पढ़ाई–वढ़ाई का क्या तअल्लुक है। जो जेवर बिका, तो कुछ बन कर ही आया हूँ, निरा लँडूरा तो नहीं लौट आया। जितना दिया था दो गुना ले जाना।"

क्या माँ को सिर्फ पैसा चाहिए? क्या श्यामनाथ का कुछ बन कर आना माँ पर एहसान है? आखिरकार क्या एक पुत्र ने माँ की भावनाओं को समझना छोड़ दिया है? या समझना नहीं चाहता? इसी प्रकार के कई प्रश्न खड़े होते हैं और आज के युग की पीढ़ी दिखावे में इस कदर लिप्त है कि वह अपने आत्मीय संबंधों तक को समझना नहीं चाहती।

जब श्यामानाथ को भनक लगती है कि उसका चीफ ग्रामीण वस्तुओं और ग्रामीण जीवन को कुछ पसंद करता है तो उस समय श्यामनाथ अपने चीफ को खुश करने का मौका नहीं गवाना चाहता है। जो माँ अब तक उसके लिए एक फालतू वस्तु थी। जो घर में अनचाही जगह घेर रखी थीं। उसका उपयोग करने का उचित समय जानकर श्यामनाथ चीफ की मनपसंद 'फुलकारी' बनाने का जिम्मा अपनी वस्तु रूप माँ पर थोप देता है। जो माँ अपनी खुली आँखों से स्पष्ट देख नहीं सकती। यहाँ तक कि उसके हाथ अब बिना कपकपी किए रह ही नहीं सकते।

"साहब की रुचि देखकर श्यामनाथ बोले–यह फटी हुई है, साहब मैं आपको नई बनवा दूँगा। माँ बना देंगी क्यों, माँ साहब को फुलकारी बहुत पसंद है, इन्हें ऐसी ही एक फुलकारी बना दोगी ना?

माँ चुप रही। फिर डरते–डरते धीरे से बोली–अब मेरी नजर कहाँ है, बेटा! बूढ़ी आँखें क्या देखेंगी? मगर माँ का वाक्य बीच में ही तोड़ते हुए श्यामनाथ साहब को बोले–वह जरूर बना देंगी। आप उसे देखकर खुश होंगे।"

एक माँ कितना भी अपमान सहकर अपने पुत्र का अहित नहीं चाहती। एक माँ स्वयं कष्ट में रह सकती है। परन्तु वह अपने पुत्रों को कष्ट में नहीं देख सकती। माँ अपना लाख अपमान के बाद भी सदा अपने पुत्रों को शुभकामनाएँ ही देती है।

"मगर कोठरी में बैठने की देर थी कि आँखों से छल–छल आँसू बहने लगे। वह दुपट्टे से बार–बार उन्हें पोंछती, पर वह बार–बार उमड़ आते, जैसे बरसों का बाँध तोड़कर उमड़ आए हों। माँ ने बहुतेरा दिल को समझाया हाथ जोड़े, भगवान का नाम लिया, बेटे के चिरायु होने की प्रार्थना की बार–बार आँखें बंद की, मगर आँसू बरसात के पानी की तरह जैसे थमने में ही न आते थे।

माँ भी कितनी महान है जैसे ही अपने पुत्र से पता चलता है कि उसके फुलकारी बना देने से उसकी पदोन्नती होगी। तो वह तुरन्त फुलकारी बनाने को राजी हो जाती है।

"तो तेरी तरक्की होगी बेटा?

तरक्की यूँ ही हो जाएगी? साहब को खुश रखूँगा तो कुछ करेगा, वरना उसकी खिदमत करने वाले और थोड़े है।

तो मैं बना दूँगी, बेटा, जैसे बन पड़ेगा, बना दूंगी।"

पूँजीवादी समाज में मानवीय संबंध इस हद तक उपयोगितावादी हो गये हैं कि एक पुत्र के लिए उसकी माँ फालतू सामान हो जाती है। कभी–कभी फालतू सामान भी काम आ जाता है। इसी प्रकार माँ का उपयोग भी उसी फालतू सामान की तरह किया जा रहा है। श्यामनाथ सभी परिवारों का सिर्फ प्रतिनिधित्व करने वाला पात्र है। आज के इक्सवीं सदी में श्यामनाथ जैसे पात्रों की कमी नहीं है।

कुछ इश्क़ किया...

वो लोग बहुत ख़ुशक़िस्मत थे
जो इश्क़ को काम समझते थे
या काम से आशिक़ी करते थे
हम जीते जी मसरूफ़ रहे
कुछ इश्क़ किया कुछ काम किया

काम इश्क़ में आड़े आता रहा
और इश्क़ से काम उलझता रहा
फिर आख़िर तंग आकर हमने
दोनों को अधूरा छोड़ दिया

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
साभार

निराला के आत्मसंघर्ष की 'शक्तिपूजा'

प्रीति
बी.ए. (ऑनर्स), हिन्दी, पूर्व छात्रा

कविवर सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' हिंदी के क्रांतिकारी कवि हैं उनकी रचनाओं में आक्रोश एवं विद्रोह की प्रधानता है जिसे डॉ. रामविलास शर्मा ने ओज और औदात्य कहा है। वह सामाजिक विषमता के विरुद्ध प्रभावी आवाज उठाते हैं। उनके काव्य का मूल स्वर क्रांतिकारी एवं विद्रोही भाव से युक्त है। यथा :

"चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए
और झटपट लेने को उनसे कुत्ते भी है अड़े हुए॥"

निराला एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं, जो शोषण मुक्त हो, जहाँ अन्याय एवं अत्याचार के लिए कोई स्थान न हो। वे समता, स्वतन्त्रता, न्याय के समर्थक हैं। वह सामाजिक विषमता को हर स्तर पर समाप्त करना चाहते हैं।

निराला की कविताओं में पूँजीपतियों के प्रति आक्रोश है और सामाजिक विषमता के प्रति विक्षोभ विद्यमान है। वे जनता को क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

'राम की शक्ति पूजा' निराला की कालजयी रचना है। इस कविता का कथानक रामकथा के एक अंश से लिया गया है, किंतु निराला जी ने इस अंश को नए शिल्प में ढाला है और तत्कालीन नवीन संदर्भों के साथ उसका मूल्यांकन किया है। युग की प्रवृत्ति के अनुसार कवि कथानक की प्रकृति में भी परिवर्तन लाता है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो कविता केवल अनुकरण मात्र और महत्वहीन होकर रह जाती। प्रकृति में परिवर्तन कवि विशेष भाव-भूमि पर पहुँचने के लिए करता है और इसके लिए कवि नए शिल्प का गठन करता है।

कवि ने मौलिक कल्पना के बल पर प्राचीन आदर्शों का युगानुरूप संशोधन अनिवार्य माना है। यही कारण है कि निराला की यह कविता कालजयी बन गयी है।

जहाँ तक बात 'राम की शक्ति पूजा' में निराला के आत्मसंघर्ष की है तो उसमें व्यक्तिगत सुख-दुख से संबधित उक्तियों की प्रचुरता है। निराला के व्यक्तिगत जीवन का सत्य भी राम के संघर्ष में मुखरित हुआ है कहीं-कहीं कवि पात्रों के मुख से अपने जीवन की अनुभूतियों को मुखरित कराया है–जैसे 'राम की शक्ति पूजा' में राम निराशा के क्षणों में जो कुछ कहते हैं वह निराला की अपनी वेदना है–

"धिक जीवन को पाता ही आया है विरोध
धिक साधन, जिसके लिए सदा ही किया शोध॥"

निराला को अपने परिवार, आलोचक एवं अन्य लोगों से जो पीड़ा मिली उसकी अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है। यदि राम इस क्षणिक अवसाद पर विजय पा सकने में समर्थ हैं तो निराला भी हैं। निराला को अवसाद कभी शिथिल न कर सका है। वे अपनी मौलिकता सूझ-बूझ से जीवन को आगे चलाते रहे और उनके राम भी जीवन को धिक्कार देकर अपनी सफलता की युक्ति निकाल लेते हैं :-

"यह है उपाय' कह उठे रामऽयों मुद्रित धन
कहती थी माता मुझे राजीव नयन!
दो नील कमल हैं शेष, अभी यही पुंरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।"

इस प्रकार इस प्रसंग में ही राम में निराला और निराला में राम के व्यक्तित्त्व का प्रक्षेपण किसी न किसी रूप में किया ही करते हैं। प्राय: उनके सभी समकालीन एवं परवर्ती आलोचकों ने राम में स्वयं कवि निराला के व्यक्तित्व के दर्शन किए हैं। संघर्ष और निराला का चोली-दामन का साथ रहा है और यही संघर्ष अंत तक राम के व्यक्तित्त्व और स्वभाव में भी निखरा है। शक्ति-पूजा में व्यक्तित्त्व और स्वभाव के अनुरूप वृत्तियों का समावेश आज के युग की विशेषता के रूप में चित्रित है। यही निराला की मौलिकता भी है।

राम की ही तरह निराला का जीवन भी विरोधों से संघर्षरत रहा। उन्हें भी राम की ही तरह अनेकानेक साधनों का शोध करना पड़ा और सतत् जागरुकता आत्मविश्वास और शक्ति-साधना के कारण राम की तरह निराला भी अपनी विजय-यात्रा में अग्रसर होते हैं। कविता के अंतिम चरण में राम के द्वारा की गई आत्मभर्त्सना उन्हें निराला के और अधिक निकट ला खड़ी करती है:-

"हो इसी कम क्रम पर वज्रपात, यदि धर्म रहे नत सदा माथ॥"

'राम की शक्ति पूजा' में जो विराटता और आवेशमयता दिखाई देती है वह कवि के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। इनके अभाव में निराला जी के व्यक्तित्व को समझा नहीं जा सकता है। इस काव्य में यह चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है। पहले ही संकेतित किया जा चुका है कि सम्पूर्ण रचना में राम के साथ निराला का अंत: संघर्ष निहित हुआ है। युद्ध में पराजय, गहरा अवसाद, अंतश्चेतना में निहित विजय आदि उनके भोगे हुए हैं। पाण्डित्य उनका अहं है जो बार-बार मुद्रित और खंडित होकर भी हार नहीं मानता।

"साधु, साधु साधक धीर, धर्म-धन्य धन्य राम
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।
होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!
कह महाशक्ति राम के बदन में हुई लीन॥"

'राम की शक्ति पूजा' में राघवेन्द्र में निराला का व्यक्तित्व भी समाहित है। उसकी अंतिम अवस्था का बहुत कुछ दायित्व रावण के असुरी प्रहारों पर निर्भर था। 'राम की शक्ति पूजा' सन् 1938 में लिखी गयी। पिछले बीस वर्षो से वह रावण से ही तो जूझ रहा था। ऐसी स्थिति में वे कहते है :–

"स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय॥"

स्वाभाविक था कि इसके पूर्व 'बादल राग' लिखा जा चुका था, 'वनवेला' की सृष्टि हो चुकी थी, 'जागो फिर एक बार' की आवाज लगाई जा चुकी थी, इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ने वाली को देखा जा चुका था। अब वह अंतिम रूप में रावण से निपट लेना चाहता था। निराला का मन उन्मत और शरीर निस्पंद–सा था।

प्रतिकूल परिस्थिति में जीनेवालों को प्रोत्साहित करने का कार्य कवि निराला ने अपनी कविताओं के माध्यम से किया है। उनका स्वयं का जीवन ही दुखों से भरा हुआ था संघर्ष उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता थी। संघर्ष के आधार पर ही अपना जीवन बिताने के कारण वह दु:खी, कष्ट सहने वालों के प्रति विशेष सहानुभूति के साथ देखते हैं। इस सहानुभूति और स्वयं के आत्मसंघर्ष के कारण कविता कहीं भी कमजोर नहीं हुई है। बहुत से दु:खों के बाद भी निराला का विश्वास कभी भी कम नहीं हुआ। 'तुलसीदास' का जीवन चित्रण भी उनको विश्वास देने के लिए महत्त्वपूर्ण लगता है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि:–

"करना होगा यह तिमिर पार–
देखना सत्य का मिहिर-द्वार–
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय–
लड़ना विरोध से द्वन्द-समर,
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर-
जाना भिन्न भी देह, निज घर नि:संशय।"।

'राम की शक्ति पूजा' में भी उनका यह विश्वास दिखाई देता है। इतना ही नहीं आदमी हृदय के प्रकाश को बुझाने वाले कवियों का पथ निराला जी वो मंजूर नहीं है।

किन्नर जीवन

कमल कान्त उपाध्याय
बी.ए. (ऑनर्स), हिन्दी, प्रथम वर्ष

भारतीय समाज भले ही अपने आपको एक नई सोच वाला समाज कहने का झूठा प्रदर्शन दूसरों के सामने कर रहा हो, लेकिन हमारे समाज में अभी भी कुछ सोचनीय विषय हैं। जिससे भारतीय अपने गौरवपूर्ण इतिहास को एक सही और सुदृष्ढ़ रूप देने में कहीं न कहीं चूक करता हुआ नजर आता है! जिसके कारण "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्तां हमारा" कहने में हमें लोगों के बीच कुछ ग्लानि की भावना हृदय में जरूर आती है।

आज हमारा समाज 'बेटी पढ़ाओ और बेटी बचाओ' का नारा दे रहा है जो कहीं न कहीं संदेह के घेरे में नजर आ रहा है। पर न जाने कितने ऐसे पुराने विचार हैं जो हमें धीरे-धीरे विलुप्त होते दिखाई दे रहे हैं। जो हमें एक नये समाज निर्माण का मार्ग प्रशस्त करते नजर आ रहे थे।

अपतु सारे प्रशंसनीय बदलाव हो जाने के बाद एक बहुत ही गंभीर विषय हमारे सामने कलंक की भांति आता है वह है 'किन्नर' जो समाज की नजरों में कलंक के रूप में विद्यमान है। लेकिन आज का समाज यह मानने को तैयार ही नहीं है कि ये हमारे समाज की चिन्ता का विषय है। जब यह सवाल उठता है कि इतनी चिन्ता का विषय क्यों? तो इसका जवाब है कि जिस समाज में लड़की होना एक पाप के समान है तो किन्नर होना तो एक महा-पाप है।

हमारे समाज की एक भारी विडम्बना यह कि भेड़ चाल चलने लगते हैं हम दूसरों की बातों में आकर किन्नरों से बात करने से कतराते हैं। उन्हें बातचीत के योग्य नही समझते! क्योंकि हम उन्हें केवल बाहरी नजरों से देखतें हैं। उनकी कुछ शारीरिक असामानताओं जो प्रकृति प्रदत्त हैं उसे उनकी एक बहुत बड़ी कमी मानकर उन्हें एक कलंक की संज्ञा प्रदान कर देते हैं। उन्हें कलंक समझने से पहले हमें अपने हृदय के अंदर झाँककर स्वयं ये सवाल करना चाहिए कि क्या वे इन्सान नहीं? वे भी मनुष्यों के श्रेणी में आते हैं जो उनके साथ हमारा यह तुच्छ विचार क्यों?

अब यह सवाल उठता है कि ये तुच्छ विचार हमारे मन में आये कहाँ से तो उसका जवाब है-समाज से। क्योंकि हम जिस समाज में रहते हैं उसी के विचारों से घिरे रहते हैं। जिस समाज में बेटी होना पाप हो वहाँ किन्नर को तो एक कलंक कहे जाने में कोई बड़ी बात नहीं। हमारे उसी समाज में उस कलंक को अपना बताने से भी

शर्म महसूस होती है। उसे भी उसी जंगल में ढकेल दिया जाता है जिसमें पहले से न जाने कितनी जिंदगी समाज की सोच रूपी वाणों से घायल पड़ी चिल्ला रही थी। और समाज उनकी करुण चीख को अनदेखा कर देता है।

हमने आजकल सड़क सिग्नलों पर देखा होगा कि यदि कोई 'किन्नर' उनकी गाड़ी के पास नजर आता है तो हम उसे बड़ी गंदी नजर से देख अपनी गाड़ी का शीशा बंद करके उसको अनदेखा कर देते हैं और शिक्षित होने का ताज अपने माथे पर बाँध लेते हैं। लेकिन वही किन्नर किसी समारोह में आता है तो हम उसे रूपयों से भरा थाल देते हैं। क्योंकि यह भी एक रूढ़ि है कि किन्नर की दुआ फलती है। वही किन्नर जब हमारे समाज से जुड़ने की इच्छा व्यक्त करता है तो हम उसे 'कलंक' की संज्ञा देकर उसे समाज से अलग कर देते हैं।

हम अंतर्राष्ट्रीय उदाहरणों को भी अनदेखा कर देते हैं। आपने सुना होगा कि विदेशों में कई इण्टरनेशनल कम्पनियों के संस्थापक किन्नर समुदाय से सम्बन्ध रखते हैं। जो समाज में अपनी एक अलग पहचान बनाये हुए हैं। स्वयं भारत में भी कई संस्थाएँ हैं जिनके संस्थापक किन्नर समुदाय से संबंध रखते हैं। 'कल्कि फाउंडेशन' इसका एक उदाहरण है। लेकिन फिर भी हमारे समाज में किन्नरों की स्थिति सोचनीय बनी हुई है। जहाँ हम अपने समाज को एक नई सोच वाला समाज कहे जाने को गर्व महसूस कर रहे हैं। वहीं वे इस कलंक को नगण्य मानकर एक सुन्दर व नयी सोच वाले भारत का निर्माण करने का प्रयास कर रहे हैं।

हमारे देश में कहीं न कहीं इस कलंक को मिटाने के प्रयास भी हो रहे हैं। चाहे वो सरकारी नौकरी में मिलने वाले आरक्षण हो या स्कूलों कॉलेजों में मिलने वाला आरक्षण हो। हमें आये दिन ये खबरें मिलती रहती हैं कि कुछ बड़े-बड़े पदों पर इनकी नियुक्ति मिलती है। जिससे हमें लगता है कि कहीं न कहीं हमारा समाज इसे दूर करने का लगातार प्रयत्न कर रहा है। और हमें ये कलंक कुछ धूमिल-सा नजर आने लगा है।

लेकिन केवल सरकारी आरक्षण मात्र देने से ही यह कलंक दूर नहीं हो सकता है। हमारे समाज को इसके प्रति नजरिया बदलना होगा तभी इस समस्या को जड़ से खत्म किया जा सकता है। क्योंकि कोई राजा तभी राजा माना जाता है है जब समाज या जनता उसे उस नजरिए से देखती है। जब तक हम किन्नरों को हीन भावना से देखते रहेंगे तो वह दोष हमारे समाज से कभी दूर न होगा हमें उनको अपने समाज का हिस्सा बनाना होगा। उन्हें हमें एक समानता की नजर से देखना होगा तभी यह कलंक एक नई पहचान बनकर सामने आयेगा। वैसे तो समाज की सोच को बदलना एक बहुत बड़ी बात है लेकिन एक सोच पूरे समाज को बदल सकती है। तब

हम यह कह सकने में बिल्कुल ग्लानि का अनुभव नहीं करेंगे कि "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्तां हमारा" और यह तभी सार्थक हो पायेगा जब हम अपने स्तर से कुछ प्रयास करें।

तब फिर ये सवाल उठता है कि हम अकेले क्या कर सकते हैं एक कहावत भी है कि अकेला चना क्या भाड़ फोड़ेगा' लेकिन इस कहावत का एक तोड़ भी है कि यदि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता है। तो चना उस कलंक की आँख जरूर फोड़ सकता है। तो हमें उसी कलंक रूपी आँख को फोड़ना है और किन्नर के आगे से उस कलंक को दूर करना है।

हम अपने स्तर पर नुक्कड़ नाटकों की मदद से भी समाज को इसके प्रति जागरुक कर सकते हैं। और बड़े-बड़े मंचों पर इस विषय पर चर्चा करके हम इसे ज्वाला प्रदान कर सकते हैं। जिससे ये ज्वाला पूरे समाज को ज्ञानरूपी प्रकाश प्रदान करें। हमारे समाज में अंधकार है वो दूर हो समाज एक स्वच्छ सोच से अपनी आगे की पीढ़ी को इस कलंक से मुक्ति प्रदान करे।

बहुत घुटन है

बहुत घुटन है कोई सूरते-बयां निकले
अगर सदा न उठे कम-से-कम फुग़ां निकले
ग़रीबे-शहर के तन पर लिबास बाक़ी है।
अमीरे-शहर के अरमां अभी कहाँ निकले
हक़ीक़तें हैं सलामत तो ख़्वाब बहुतेरे
मलूल क्यों हो जो कुछ ख़्वाब राएगां निकले
वह फ़ल्सफ़े जो हर इक आस्ताँ के दुश्मन थे
अमल में आए तो ख़ुद वक्फ़े-आस्तां निकले
उधर भी ख़ाक उड़ी है, उधर भी ज़ख़्म पड़े
जिधर से होके बहारों के कारवां निकले
सितम के दौर में हम अहले-दिल ही काम आए
ज़बां पे नाज़ था जिनको वह बेज़बां निकले

साहिर लुध्यानवी
आओ कि कोई ख़्वाब बुनें
साभार

घर की यादें

पूजा गुप्ता
बी.ए. (ऑनर्स), हिन्दी, प्रथम वर्ष

बड़ी हसीन होती हैं घर की यादें
माता-पिता, भाई-बहन दोस्त को छोड़कर
आते हैं जब अंजान शहर में

न दिन में सुकून न रात में चैन
एक-एक दिन बड़ी मुश्किल से गुजारते
दिन में मैगी रात को खिचड़ी
बस यही है रोज का रूटीन

अनजान शहर में छोटा-सा कमरा लेकर
चारपाई, रसोई व स्नान घर सब उसी में होता
हर पल आती है घर की यादें

सब्जी और राशन की पोटली जब हम उठाते
अपना दर्द व मायूसी खुद ही छिपाते
जब कोई आए प्यार व खुशी का त्यौहार
बस यही सोचकर आ जाती हैं घर की यादें

सोचते हैं कि घर पर मिलेंगे पूड़ी-पकवान
लेकिन फिर अपने मन पर काबू करके
आता है अपने लक्ष्य का ध्यान

सारी लालसा व उत्तेजना को बाय-बाय कह देते
क्यों कि कुछ पाने के लिए
बहुत संघर्षों का सामना करना पड़ता
बस ऐसी ही हो आती हैं (विकल्प) घर की यादें...।

संघर्ष जीवन का...

संस्कृति चतुर्वेदी
बी.ए. (ऑनर्स), हिन्दी, प्रथम वर्ष

खुदा भी साथ देता है,
जब बन्दा आगाज करता है,
कुछ पाने का हौसला,
जब परवान चढ़ता है,
जहाँ तक कोई न पहुँचे
वहाँ पहुँच करके तो तू देख,
ओ! रब के बन्दे
खुदा खुद ही आकर
नाम तख्तोताज करता है।

सुना है आसमानों में भी,
अक्सर छेद होते हैं,
पत्थर को
तबियत से उछाल करके तो देख

जो रस्ता चुन लिया तूने
जो ख्वाब बुन लिया तूने,
ये रस्ता है बहुत लम्बा
यह सुन लिया तूने,

तो अब आगे को बढ़ता चल
न पीछे मुड़ न पीछे रह
देखा तो ये भी है हमने
तेरा संघर्ष ही तो है,
जो तेरे साथ चलता है

खुदा पर विश्वास रख करके,
तू अपना पथ प्रकाशित कर
कल को तेरे ये ही कल
तेरे संघर्षों कहानी बोलेंगे।

तेरा संघर्ष जितना ज्यादा होगा,
तू अपने सपनों के खातिर
उतना ही उन्मादा होगा
संघर्षों की पोटली बनाकर
तू अपने साथ ही रख ले।

कल तेरे ये संघर्ष
तेरी कहानी बताएँगे
तेरी पहचान बनकर के
औरों को पथ दिखाएंगे।

तेरी हैसियत इस जगत में
तेरे संघर्ष बताएँगें।
तेरा कल था तेरा कल है,
(तेज कल होगा) विकल्प
बस अपने आप को ही
तू पहचान करके तो देख।

'कौन जात' हो भाई

नाम से पता नहीं लगता

डॉ. प्रदीप कुमार से डॉ राजेश कुमार एवं डॉ. प्रवीण कुमार की बातचीत
विशेष संदर्भ : दलित आंदोलन बसपा एक विकल्प? – डॉ. प्रदीप कुमार

डॉ. प्रवीण कुमार : हाशिए का साहित्य ही नहीं हाशिए की राजनीति भी अब केन्द्र में है। ऐसे समय में सत्यवती कॉलेज के राजनीति विज्ञान विभाग के असिसटेंट प्रोफेसर डॉ. प्रदीप कुमार की पुस्तक दलित आन्दोलन 'बसपा एक विकल्प?' हमारे समक्ष है। सबसे पहले मैं और डॉ. राजेश कुमार (असिसटेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, सत्यवती कॉलेज) सामूहिक रूप से आपको बधाई देते हैं।

प्रदीप जी, आपसे मेरा पहला सवाल यह है कि आपकी किताब का शीर्षक है– **'दलित आन्दोलन बसपा एक विकल्प?'** दलित आन्दोलन और उसमें भी बसपा पर ही आपने किताब क्यों लिखी?

डॉ. प्रदीप कुमार : दरअसल दलित आंदोलन किसी एक विचारधारा अथवा परिपाटी से बँधा हुआ नहीं रहा है। आज़ादी से पहले उत्तर प्रदेश में स्वामी अछूतानंद, बंगाल में नामशूद्र मूवमेंट, दक्षिण में पेरियार के नेतृत्व में ब्राह्मण विरोधी आंदोलन, आन्ध्रा और पंजाब में आदि धर्म मूवमेंट, महाराष्ट्र तो दलित आंदोलन का केन्द्र रहा ही जहाँ जोतिबा फूले और डॉ. अम्बेडकर के नेतृत्व में हुए आंदोलन। इन सभी बुद्धिजीवी, नेता और समाज सुधारकों ने दलित आंदोलन को आवाज़ दीं। इसकी विशेषता यह है कि यह कोई एक आवाज नहीं थी, इन आवाजों में विभिन्नता और विविधता थीं।

साहित्य के विषय में मुझे ज्यादा जानकारी तो नहीं है। फिर भी..., साहित्य में एक बहस है दलित आंदोलन को एकमुश्त (एक इकाई के रूप में) देखा जाए। लेकिन मैं दलित आंदोलन की इस परिकल्पना में विश्वास नहीं करता मैं इसे एक इकाई के रूप में नहीं देख पाता। यह राय मेरी व्यक्तिगत राय मात्र नहीं है, बल्कि मेरे शोध और आँकड़ों पर आधारित है। मैं कौन होता हूँ, यह कहने वाला कि दलित आंदोलन में केवल यही (बसपा) एक विकल्प है। मैंने अपने पाठकों को यह स्वतंत्रता दी है कि वे पुस्तक पढ़ने के पश्चात निष्कर्ष स्वयं निकालें। मैंने तो ज़मीनी धरातल पर जाकर जानकारियाँ इकट्ठी की हैं। मैंने पाया कि दलित आन्दोलन में कोई एक आवाज़ नहीं है। जैसाकि कई बार दावा किया जाता है।

डॉ. प्रवीण कुमार : मेरा प्रश्न यह है कि दलित आन्दोलन में बसपा ही क्यों? कोई और पार्टी क्यों नहीं?

डॉ. प्रदीप कुमार : उत्तर भारत, जिसे हिन्दी बेल्ट बोलते हैं, में 1980 के दशक के आरम्भ में बसपा की स्थापना होती है। उत्तर प्रदेश, जो दलित आबादी वाला एक बड़ा राज्य रहा है, वहाँ बसपा सत्ता में आती है। अपने आप में यह बड़ी रोचक कहानी है कि दलित महिला चार बार उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री बनती है। ये अपने में एक इतिहास है। सफलता की यह कहानी लोगों को किस रूप में प्रेरित करती है?

बड़े-बड़े बुद्धिजीवी विशेष रूप से अभय कुमार दुबे... जब कांशीराम पर किताब लिखते हैं तो वह दावा करते हैं कि बसपा कोई विचारधारा केन्द्रित पार्टी नहीं है। यह कार्यक्रमों और आन्दोलन से निकली हुई पार्टी है। इसमें विचारधारा शून्य है। क्रिस्टोफे जाफ्रेलॉ, मोहनदास नैमीशराय गेल ऑम्बेट, विवेक कुमार, गोपाल गुरू आदि बुद्धिजीवी इस विषय पर आपस में बँटे हुए हैं। कोई कह रहा है कि विचारधारा पर वाली पार्टी नहीं है, दूसरा कह रहा है कि यह विचारधारा केन्द्रित पार्टी है। प्रश्न यह भी आता है कि यदि इस पार्टी में विचारधारा है, तो किस स्तर पर है?

डॉ. प्रवीण कुमारः यह पार्टी विचारधारा केन्द्रित है अथवा नहीं? क्या यही जानना आपकी पुस्तक का सार है?

डॉ. प्रदीप कुमारः यह सार नहीं, एक महत्वपूर्ण बिन्दु है, एक सवाल है। इस सवाल पर पूरा एक अध्याय पुस्तक में शामिल किया गया है। इस सवाल का जबाव खोजने की कोशिश की गई है। इसके अलावा खास बात यह भी है कि हम जिस युग में जी रहे हैं, वहाँ विचारधाराओं को लेकर एक संशय बना हुआ है। क्या हम विचारधारा के युग में रह रहे हैं अथवा विचारहीनता के युग में?

डॉ. प्रवीण कुमारः आपके उत्तर से एक सवाल और पैदा हो रहा है कि आजादी से पहले दलित आन्दोलन के कई स्वरूप रहे हैं, इसके कई अगुवा रहे हैं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व पश्चिम चारों तरफ से आपने बड़े नेताओं के नाम लिए। इस पूरे दलित आन्दोलन में गाँधी जी की कोई भूमिका देख पा रहे हैं?

डॉ. प्रदीप कुमार : दलित आन्दोलन विभिन्न चरणों से गुज़रा है। विभिन्न चरणों में इसने अपना स्वरूप बदला है और नाम भी बदला है। गाँधी के हरिजन आन्दोलन की अनदेखी नहीं की जा सकती। उससे सहमत-असहमत हो सकते हैं।

डॉ. राजेश कुमारः यह बात ठीक है कि दलित आन्दोलन विभिन्न चरणों से गुजरा है। बसपा के पूर्व भी दलित आन्दोलन की लम्बी श्रृंखला है। बसपा से ठीक पहले 'बामसेफ' और 'डी.एस.फोर' आते हैं, जो इस पार्टी (बसपा) का मूलाधार हैं। इन संगठनों की एक विचारधारा है, जिसमें कोई दुराव अथवा अस्पष्टता नहीं है।

मेरा प्रश्न है कि बसपा तक आते-आते इस विचारधारा में क्या वही स्पष्टता, ऊर्जा, दृढ़ता और प्रतिरोध बचे हुए हैं, अथवा इसमें कोई कमी आई है? बामसेफ से लेकर बसपा तक दलित आन्दोलन की यात्रा पर थोड़ा प्रकाश डालिए।

डॉ. प्रदीप कुमार- कांशीराम ने एक बड़ी रोचक बात कही थी ''मैं अपने संगठन बनाता हूँ और उन्हें तोड़ देता हूँ। मुझे यदि जरूरत लगती है तो आन्दोलन में एक कड़ी जोड़ देता हूँ यदि कोई कड़ी अप्रासंगिक लगती है तो उस कड़ी को तोड़कर अलग कर देता हूँ। उत्तर प्रदेश मेरे राजनीतिक प्रयोगों की प्रयोगशाला है।''

राजनीति को संभावनाओं का खेल कहा जाता है। आपके प्रतिद्वंद्वी यदि आपकी संभावनाओं और रणनीतियों को पहले से भाँप लें, तो फिर आप राजनीति नहीं कर सकते। यदि हम विचारधारा और आंदोलनों की दृष्टि से देखते हैं, तो हमें लगता है कि एक परिपाटी पर (एक लाइन पर) चलना चाहिए, लेकिन कोई राजनीतिक दल जो कि पेशेवर राजनीतिक दल है कभी, एक परिपाटी पर नहीं चल सकता और न चलता है। बदलते परिवेश, संभावनाओं और अपने सामाजिक आधार को तलाशने के लिए बसपा ने कुछ अलग कार्य किए हैं। जैसे जातीय समाजों को इकट्ठा करना, उन जातियों के सामाजिक- सांस्कृतिक इतिहास (मौखिक इतिहास) को सामने लाना। कांशीराम ने जातीय समाजों को इकट्ठा करने में इस मौखिक इतिहास को टूल (उपकरण) की तरह इस्तेमाल किया है। बहुत बाद में भारतीय जनता पार्टी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के माध्यम से इसी टूल 'मौखिक इतिहास' का इस्तेमाल करती है। भाजपा ने किसी चमत्कारिक ढंग से दलित आंदोलन को हाइजैक कर बसपा को हाशिए पर नहीं धकेला है, बल्कि बसपा को हाशिए पर धकेलने और दलित आन्दोलन को हाइजैक करने के लिए ज़मीन पर दो-तीन दशक तक बसपा की रणनीतियों और मौखिक इतिहास पर काम किया है।

डॉ. प्रवीण कुमारः यह बात ठीक है कि व्यावहारिक राजनीति में विचारधारा की शुद्धता नहीं चलती, लेकिन मेरा प्रश्न यह है कि बसपा की सोशल इंजीनियरिंग अथवा सपा-बसपा के सहयोग में दलितों को वह हक और सम्मान मिल पाएगा, जिसका सपना डी एस फोर, बामसेफ अथवा शुरूआती दौर में बसपा ने भी देखा था।

डॉ. प्रदीप कुमारः आपके प्रश्न को दो तरह से देखा जा सकता है। एक तो यह कि डी एस फोर की स्थापना का उद्देश्य क्या था? इसकी हाईपोथीसिस क्या थी? इसकी सीमाएँ क्या थीं? यह सरकारी कर्मचारियों की संस्था थी, जिसे आप अर्धराजनीतिक पार्टी भी कह सकते हैं।

दूसरा यह कि दलितों के स्वाभिमान और अधिकारों पर बात करते हुए हम उन्हें एक इकाई के रूप में देख रहे हैं लेकिन वहाँ से एक जातीय समाज भी हैं। देखना

यह है कि दलित समाज की केन्द्रित और समृद्ध जातियों को बसपा की राजनीति से क्या मिलेगा और दलित समाज की परिधि पर पड़ी कमजोर जातियों को क्या मिलेगा? इसे समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने की जरूरत है। सोशल इंजीनियरिंग से दलित समाज को क्या मिलेगा? इसका उत्तर आपको या तो यह किताब पढ़कर मिलेगा अथवा भविष्य इसका उत्तर बतायेगा।

डॉ. राजेश कुमारः बसपा की रणनीतियों के विचलन और सोशल इंजीनियरिंग पर बात करते समय इस पर भी ध्यान जाता है कि दलित बुद्धिजीवी और राजनीतिक विश्लेषकों की जो निष्ठा बामसेफ और डी.एस.फोर के प्रति रही, वैसी निष्ठा और वैसा भरोसा बसपा के प्रति नहीं रहा। इसके विपरीत कुछ स्वर इसे एक अवसरवादी राजनीतिक पार्टी भी घोषित करने लगे थे। सवाल यह है कि सामाजिक राजनीतिक यूटोपिया अथवा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कुछ राजनीतिक समझौते करना बसपा की मजबूरी है? अथवा समझौते किये बिना ही अपने लक्ष्य और आदर्श स्थिति को प्राप्त कर सकती है? विचारधारात्मक सैद्धांतिक राजनीति और व्यवहारिक राजनीति में अंतर आता है। तमाम राजनीतिक पार्टियों की सैद्धांतिक राजनीति और व्यवहारिक राजनीति में एक फाँक नजर आती है।

डॉ. प्रदीप कुमारः डी एस फोर और बामसेफ के प्रति जो मोह 1990 के दशक में हुआ करता था, वह मोह बसपा के गठन के बाद जाता रहा। कांशीराम ने डीएसफोर की जगह बसपा का गठन कर बामसेफ को भंग कर दिया। इसे लेकर दलित राजनीति से जुड़े लोगों में दो–फाड़ थे। एक धड़ा कांशीराम के साथ चला जा रहा था कि बसपा के गठन के पश्चात बामसेफ जैसे संगठनों की ज़रूरत नहीं है। दूसरे धड़े का मानना था कि 'बामसेफ' को बरकरार रखना चाहिए, जो बसपा के थिक टैंक और कोर ग्रुप के रूप में कार्य करे जैसा कि पहले भी करता रहा था। आज जब बसपा उथल पुथल की अवस्था में दिखाई पड़ रही है तो बामसेफ जैसे संगठन पुनर्जीवित हो रहे हैं। आज बसपा अपने संगठनों पर जिस तरह काम कर रही है, वह दर्शाता है कि डीएसफोर और बामसेफ जैसे संगठन अप्रासंगिक नहीं हुए थे। आज कांशीराम होते तो इस पर क्या जवाब देते, क्या वे अपनी रणनीति में परिवर्तन करते? हम यह तो नहीं जानते, लेकिन बामसेफ (और डी.एस.फोर) जैसे अन्य संगठनों के महत्व को स्वीकार किया जा रहा है।

डॉ. प्रवीण कुमारः लेकिन सवाल ये है, प्रदीप कि भाजपा ने दलित वोट बैंक में सेंध लगा ली है। यह बात आप भी स्वीकार करते हैं। जैसा कि आपने पुस्तक के एक अध्याय में एक केस स्टडी में दिखाया है कि निषादराज और एकलव्य की मूर्ति को लेकर दो विभाजक रेखाएँ हैं, इससे तो यही लग रहा है कि भाजपा सेंधमारी कर चुकी हैं। इस सेंधमारी का क्या बसपा के पास कोई जवाब है? उनका भविष्य क्या है? इस तरह के राजनीतिक विभाजन का भविष्य क्या है?

डॉ. प्रदीप कुमारः आम भाषा में कहें तो एक राजनीतिक सामाजिक तबके का मानना था कि दलित किसी एक दल/संगठन की बपौती नहीं हैं। वे इस बात को चिढ़कर कहते थे। अर्थात राजनीतिक पार्टियों के लिए 'दलित' वोट बैंक मात्र रहे हैं, जिस पर कांग्रेस अथवा बसपा की दावेदारी अन्य राजनीतिक दलों की चिढ़ का कारण भी थी। ज़मीन पर दलित या हाशिए पर माने जाने वाली जातियों जैसे–निषाद, कोली अथवा वाल्मीकि खटीक, जाटव, पासी, कुर्मी, धानुक अथवा अन्य जातियाँ इन सभी जातियों के सामाजिक संबंध आपस में उलझे हुए हैं। ये जातियाँ दलित बनाम दलित की स्थिति में भी हैं और सवर्ण बनाम दलित की स्थिति में भी हैं। किसी भी राजनीतिक दल के लिए यह बड़ी चुनौती है कि आखिर इन सभी दलित-जातियों को एक झण्डे तले कैसे लामबद्ध किया जाए?

आज भाजपा ने निषाद, कोली अथवा वाल्मीकि जातियों को लामबंद करने के लिए एक अलग विचारधारा (अवधारणा) 'वंचना' को आधार बनाया है।

1930 के दशक में हरिजन शब्द फैशन में आया, दलित पैंथर मूवमेंट के साथ 'दलित' अवधारणा आई तो 'हरिजन' पीछे पृष्ठभूमि में जाने लगा। बसपा ने दलित शब्द के बजाय ''बहुजन समाज'' पर जोर दिया। वह उसे व्यक्ति (व्यष्टि) से उठाकर समाज (समष्टि) के स्तर पर लेकर गए। जहाँ शोषण, वंचना हाशिए के सवाल और गूढ़ हो जाते हैं और अब भाजपा 'वंचना' की अवधारणा लेकर आगे बढ़ रही है। 'वंचित' एक शब्द मात्र नहीं है, एक विमर्श है जो दलित विमर्श के सामने बनाम की स्थिति में है। अब ये भविष्य बताएगा कि दलित आन्दोलन अब किस शब्दावली से जाना जाएगा। मगर एक बात यह भी पक्की है कि अगर भाजपा वंचना के विमर्श को स्थापित करती है। तो दलित शब्दावली व विमर्श पर तीखे वार होंगे और यह मुझे अवश्यंभावी लगता है। क्योंकि जिनके विमर्श में दलित सवर्ण जातियों और विचारधारा को ही शोषक मानता है। तो फिर ये कैसे सम्भव होगा कि दलित विमर्श को प्रचलित रूप मैं स्वीकार कर लिया जाये। उनके लिए दलित तीखा शब्द विमर्श है, जिसे वंचना से ही कुन्द किया जा सकता है।

डॉ. प्रवीण कुमारः आपकी किताब में अलग से एक अध्याय है-आगरा और मथुरा में बसपा की स्थिति को लेकर। ये आपने केस स्टडी की है। इस केस स्टडी के क्या निष्कर्ष हैं?

डॉ. प्रदीप कुमारः किताब में मैंने बहुत सारी चीजें कवर करने की कोशिश की है। आपके प्रश्न के जवाब में मैं एक उदाहरण दे रहा हूँ- कांशीराम शहरी विकास योजना के तहत बसपा ने दलितों के लिए आवास की व्यवस्था की थी। इस योजना के अंतर्गत मल्टीस्टोरी फ्लैट बनाये गये। मकान के आबंटन में एक दलित दूसरे दलित की जाति देखता है और एक (जाटव) एक खटीक के साथ, एक

खटीक एक बाल्मीकि के साथ पड़ोस साझा करने को तैयार नहीं है। एक जाटव दूसरे वाल्मीकि के पड़ोस साझा करने के बजाय अपने गाँव में पैतृक आवास असुविधाजनक जीवन जीने को तैयार है। यद्यपि राजनीतिक विमर्श में दलित एक जमात है, जिसमें एकता को बोध होता है लेकिन सामाजिक संरचना में दलित जातियाँ भी हैं जो एक-दूसरे के सामने बनाम की स्थिति में भी खड़ी हैं। ठीक वैसे ही, जैसे सवर्ण बनाम दलित हैं। गाँव में मौहल्ले भी जाति आधारित होते थे। आज जब शहर में एक पंडित के पड़ोस में दलित मकान खरीदता है तो उसे पंडित स्वीकारने को तैयार नहीं है। इसका आर्थिक पक्ष भी है। यदि एक पंडित सांसी जाति अथवा बाल्मीकि जाति के व्यक्ति के साथ पड़ोस साझा करता है तो उसके मकान की कीमत काफी कम हो जाती है। यदि दलित बस्ती है तो पूरी बस्ती की ही कीमत कम हो जाती है।

इस प्रकार इसमें कुछ रोचक तथ्य व जानकारी हैं जो दलित राजनीति व विमर्श को चुनौती और नई दृष्टि की पहल पर भी जोर देती है।

डॉ. राजेश कुमार: दलित जातियों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों से सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया का क्या संबंध है? आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कारणों से कुछ जातियाँ सांस्कृतिकरण की ओर जाती हैं और कुछ जातियाँ अपने जातीय गौरव का इतिहास खोजती हैं। विभिन्न दलित जातियों की स्थितियों का अंतर विमर्श को किस रूप में प्रभावित करता हैं। प्रश्न की स्पष्टता के लिए एक उदाहरण लीजिए- वाल्मीकि जाति को अपना वोट-बैंक बनाने में बीजेपी सफल होती है। जबकि जाटवों की प्रतिबद्धता बसपा से जुड़ती हैं। इन दोनों जातियों के सांस्कृतिक प्रतीकों में भी एक भिन्नता दिखाई पड़ती है। वाल्मीकि जाति रामायण और वाल्मीकि को चुनती है, वह अपने आपको एक हिन्दू के रूप में देखती है। यह सब सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया की ओर ले जाता है। इसी प्रकार आर्थिक समृद्धि भी सांस्कृतिकरण की ओर ले जाती है। अंग्रेजों के समय औद्योगिक विकास का लाभ पाने वाली जातियों में भी सांस्कृतिकरण हुआ।

विभिन्न दलित जातियों की भिन्न स्थिति, भिन्न राजनीतिक समझ और प्रतिरोध की भिन्न रणनीतियाँ क्या ये सब दलित विमर्श की एक संयुक्त इकाई बन पाती हैं, विभिन्न जातियों के ये विमर्श क्या दलित विमर्श के किसी एक खाने में आ जाते हैं अथवा दलित विमर्श के भीतर अलग-अलग खाने हैं? आप इस विमर्श को किस रूप में देखते हैं?

डॉ. प्रवीण कुमार: इसमें एक सवाल यह भी जोड़ लें कि क्या बसपा ने कभी ऐसी रणनीति अपनाई जिससे दलितों को गैर-हिन्दू पैटर्न पर आगे बढ़ाया जा सके?

डॉ. प्रदीप कुमार: बसपा का यूटोपियन संसार है– 'प्रबुद्ध भारत'। बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर और महात्मा बुद्ध की विचारधारा से निकला 'प्रबुद्ध भारत' बसपा का आदर्श संसार है। बसपा के इस आदर्श संसार (प्रबुद्ध भारत) का टकराव 'हिन्दुत्व' से है। हिन्दुत्व बनाम प्रबुद्ध भारत। ऐसा जान पड़ता है। आपने वाल्मीकि जाति का जो उदाहरण दिया, वह भी रोचक है। वाल्मीकि जाति कभी बड़ी मात्रा में बसपा का आधार नहीं रही। वाल्मीकि जाति के वोट बैंक पर पहले कांग्रेस का एकाधिकार था। बसपा ने वाल्मीकि जाति में पैठ बनाने की कोशिश की तो यह पैठ पढ़े लिखे (मध्य वर्गीय) वाल्मीकि समाज में ही बन पाई, जो कि बाबा साहब की विचारधारा से जुड़ा था। अशिक्षित वाल्मीकि समाज स्वयं को बसपा से सम्बद्ध करने की अवस्था में है ही नहीं। यह एक ओवर लैपिंग है कि वाल्मीकि समाज कांग्रेस से टूटकर बसपा से जुड़ने के बजाय भाजपा से जुड़ गया। वाल्मीकि जाति में विमर्श की तीन स्थितियाँ हैं– एक हरिजन, दूसरा अंबेडकरवादी सीमित वाल्मीकि समाज ही अंबेडकर से जुड़ा, चमारों ने अंबेडकर से पूरी तरह सम्बद्ध कर लिया और चमार एवं महार जाति के अंतर का लोप कर दिया और तीसरी स्थिति है – वंचना। चूँकि वाल्मीकि समाज हिन्दुत्व के प्रति अनुकूलित है, अतः आज तक मंदिर प्रबंधन की राजनीति भी खूब फल–फूल रही है। वाल्मीकि जयंती मनाइये, वाल्मीकि मंदिर बनवाइये और इन मंदिरों में होने वाले कार्यक्रमों में बढ़–चढ़कर हिस्सा लीजिए, जिससे लोग आपके झंडे तले लामबद्ध हों।

डॉ॰ राजेश कुमार : जैसा कि आपने कहा–"शिक्षित वाल्मीकि समाज जो कि अंबेडकरवादी है, केवल वही बसपा के साथ आया। वाल्मीकि समाज का एक बड़ा तबका, जो कि अशिक्षित है, वह भाजपा के साथ चला गया।" क्या यही बात चमार जाति पर भी लागू होती है? चमारों में शिक्षित और अशिक्षित का भेद है? अशिक्षित चमार समाज बसपा के साथ है अथवा बी.जे.पी. के साथ चला जाता है?

डॉ॰ प्रदीप कुमार : चमार व जाटव समुदाय के साथ भी एक रोचक बात है। बाबा साहब अंबेडकर और महात्मा बुद्ध उनके घर की दीवारों पर अंकित हैं लेकिन साथ ही ब्रह्मा–विष्णु–महेश एवं अन्य हिन्दू देवता भी टंगे हुए हैं। वे बुद्ध जयंती मनाते हैं, अंबेडकर जयंती मनाते है, होली–दिवाली मनाते हैं और काँवड़ भी ढोते हैं। इन्होंने उन सबको आत्मसात कर लिया है। ये विरोधाभासी समन्वयवाद।

डॉ॰ प्रवीण कुमार : अंतिम प्रश्न, थोड़ा लंबा है। मण्डल कमीशन के समय एक नारा चला–'वोट से लेंगे पी.एम.–सी.एम., मण्डल से लेंगे एस.पी.–डी.एम.।' पिछले तीस वर्षों में ओ.बी.सी. जातियों का वर्चस्व बढ़ा है और उनका दलितों पर अत्याचार भी बढ़ा है। मण्डल कमीशन का फायदा लेकर एक बड़ा वर्ग आगे बढ़ा है लेकिन इसका कुप्रभाव दलित आंदोलन पर भी पड़ा है। आपने भी अपनी किताब में लिखा है कि दलित आंदोलन और पिछड़ा वर्ग के आंदोलन साथ–साथ चले,

लेकिन पिछड़ा वर्ग ने खुद को दलित आन्दोलन से अलग कर लिया। एक सवाल। दूसरा सवाल यह है कि बसपा के एजेंडे में ओ.बी.सी. और सवर्ण कहाँ आते हैं, मायावती घोषित कर चुकी हैं कि गरीब सवर्णों को भी आरक्षण मिलना चाहिए। मैं इसमें अंतर्विरोध देखता हूँ यदि आपको इसमें अंतर्विरोध के बजाय कुछ रचनात्मकता दिखाई पड़ती है तो स्पष्ट करें।

डॉ॰ राजेश कुमार : इसमें आप तीसरा प्रश्न भी जोड़ लें। पिछड़ा वर्ग के राजनीतिक-सामाजिक सशक्तिकरण के साथ-साथ यह वर्ग दलितों के प्रति अधिक हमलावर हुआ है। दलित एवं पिछड़ा वर्ग में टकराव बढ़ा है। इस टकराव का समाधान क्या है? यदि सैद्धान्तिक और राजनीतिक धरातल पर कोई फार्मूला मिल भी जाए तो इसे सामाजिक रूप से लागू कैसे किया जाए? क्योंकि राजनीतिक सशक्तिकरण से पूर्व भी पिछड़ा वर्ग दलितों के प्रति खूब हमलावार रहा है। हमलावर होने का मूल कारण तो सामाजिक है, राजनीतिक कारण तो उसके बाद जुड़ता है। पिछड़ा वर्ग ने द्विज समाज से भले ही मार खाई हो, लेकिन दलितों के विरूद्ध वह लठैत बनकर ही रहा। टकराव की इन स्थितियों को समाप्त करने के लिए कोई भी सैद्धांतिक और राजनीतिक फार्मूला सामाजिक आधार पर कैसे लागू किया जाए? सामाजिक आधार और दलित-विरोधी मानसिकता को बदले बिना क्या कोई भी समाधान संभव है?

डॉ॰ प्रदीप कुमार : पहले ओ.बी.सी. और दलित का प्रश्न लिया जाये। ओ.बी.सी. बनाम दलित पर उसके बाद विचार करते हैं। यूँ तो बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर ने भी दलितों और पिछड़ों को एक ही झंडे तले लाने की प्रस्ताव रखा था। यदि ये दोनों एक हो जाएँ तो ब्राह्मणवाद से टक्कर ले सकते हैं। लेकिन जमीनी स्तर पर आजादी से पहले भी और बाद में भी दलित और मध्यम जातियाँ एकजुट नहीं हुई, न तो राजनीतिक धरातल पर और न ही सामाजिक धरातल पर। सांस्कृतिक धरातल पर तो बनाम की स्थिति है–''दलित बनाम पिछड़ा वर्ग।'' अकादमिक जगत में जिसे जातियों का प्रतिरोध कहते हैं, उसे जमीनी स्तर पर मैं जातीय शेखी के रूप में देखता हूँ। जैसे यदि मायावती सत्ता में हैं तो जाटव जाति की शेखी होगी कि बहनजी कुर्सी पर हैं, वे सब देख लेंगी। शेखी के कारण सम्बद्ध जाति में कभी-कभी डवलपमेंट प्रोग्राम भी पीछे चले जाते हैं। बहन जी कुर्सी पर हैं इतना ही उनके लिए काफी है। इसी प्रकार कभी-कभी मध्यम जातियों के लिए भी डवलपमेंट प्रोग्राम मायने नहीं रखता। उनके लिए भी यह महत्त्वपूर्ण है कि सत्ता में कौन बैठा है? वह किस जाति का है? वह मुलायम सिंह यादव अब (अखिलेश यादव) हैं या मायावती? कुछ प्रभु मध्यम जातियाँ मायावती का पचा नहीं पा रहीं (स्वीकार नहीं कर पा रही।) वे घुटन महसूस करती हैं। उन्हें लगता है कि यदि आज ये दलित बढ़-चढ़कर बोल रहे हैं तो इसकी वजह सी.एम. (मायावती) है।

दूसरा प्रश्न, जो सवर्णों से संबंधित है, इस संदर्भ में बाबा साहब ने कहा था कि हमारा विरोध ब्राह्मण से नहीं, ब्राह्मणवाद से है। उन्होंने अपने संगठनों में कई ब्राह्मण साथियों को जगह दी। उन्होंने ब्राह्मणों से सहयोग लिया भी और उन्हें सहयोग दिया भी। उनके अनुसार ब्राह्मणवाद दलितों, पिछड़ों और सवर्णों में भी हो सकता है। उसे जड़ से खत्म करने के लिए हर जगह वार करना पड़ेगा। 2007 में मायावती जब सत्ता में आईं तो बसपा एकमात्र राजनीतिक पार्टी दिखती थी जो यह कहती थी कि हम पिछड़े हुए ब्राह्मणें को भी 10% आरक्षण देंगे। बसपा यह भी कहती है कि सरकारी नौकारियों में ही नहीं ठेकों में भी दलितों को आरक्षण दिया जायेगा। मायावती सोशल एजेंडे पर एक कदम आगे बढ़ रही थीं इसके विपरीत अन्य सरकारों ने प्रमोशन में आरक्षण को भी समाप्त कर दिया, जिस पर कोई बातचीत भी अब नहीं होती। आज बचे-खुचे आरक्षण पर भी गाज गिरी हुई है। आज लोग बैक लॉग और खाली पड़े पदों को कोई मुद्दा नहीं मान रहे हैं। भारतीय लोकतंत्र की यह बिडम्बना है जो राजनीतिक पार्टियाँ दलितों के अधिकारों पर हमला कर रही हैं, दलित भी उन्हीं को तरफ जा रहे हैं। उन्हें पता ही नहीं कि यह क्या हो रहा है?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : एक अंतिम सवाल, इस किताब को पढ़ते हुए मुझे बार-बार महसूस हो रहा था कि लेखक या तो बहुत तटस्थ है या बसपा की राजनीति से निराश है। इस पर आपकी टिप्पणी?

डॉ॰ प्रदीप कुमार : मैं इस बात से सहमत हूँ कि मैंने तटस्थ रहने की कोशिश की है। लेकिन कोई भी लेखक हमेशा पूरी तरह तटस्थ नहीं रह पाता, कहीं न कहीं वह प्रतिबिबिंत हो ही जाता है। अब यह पाठक तय करें कि लेखक कितना तटस्थ रह पाया है। दूसरा मैं व्यक्तिगत रूप से बसपा की राजनीति से असहमत या सहमत हो सकता हैं लेकिन निराश होने का भाव मेरे जहन में न तो व्यक्तिगत रूप से है और न ही लेखकीय अनुभव से बसपा की राजनीतिक सम्भावनाएँ अभी काफी प्रबल है। ये टूटने के बावजूद बार-बार लौटने वाली पार्टी है। जो किसी के लिए क्षणिक निराशा तो पैदा कर सकती है मगर दक्षिणपंथी दलों के और मजबूत होने से बसपा को भी काफी बल मिलेगा क्योंकि दक्षिणपंथी राजनीति बनाम बहुजन समाज का विमर्श एक दूसरे के पूरक से कहीं ज्यादा विरोधी हैं और वैसे भी मेरी व्यक्तिगत मत का इस पर असर नहीं पड़ने वाला।

डॉ॰ प्रवीण कुमार : शायद आपने इसीलिए किताब में अधिकतम आँकड़ों का प्रयोग किया है?

डॉ॰ प्रदीप कुमार : मैंने आँकड़ों का भी प्रयोग किया है, सांस्कृतिक इतिहास भी खोजा है, प्रशासनिक इतिहास भी निकाला है, विचारधाराओं को भी देखा है, वर्गीय संरचना और जातीय संरचना को भी देखा है और अस्मिताओं का संदर्भ भी

देखा है। डॉ. राजेश से कुछ साल पहले (2015-16) इस विषय में मेरी बात हुई थी कि क्या अस्मिता भी सकारात्मक-नकारात्मक हो सकती है। ये सब पहूल इसे अलग और खास बनाते हैं।

डॉ. प्रवीण कुमार : इस किताब को इतने सघन रूप से लिखने में आपको कितना समय लगा?

डॉ॰ प्रदीप कुमार : इस किताब को लिखने में 12 से 13 साल का समय लगा।

डॉ॰ राजेश कुमार : दलित बनाम पिछड़ा वर्ग का प्रश्न भी हमारी बातचीत में पीछे छूट रहा है। दलित बनाम पिछड़ा वर्ग के टकराव की समस्या का कोई समाधान क्या दलित नेतृत्व के पास है? क्या वह समाधान सामाजिक धरातल पर भी उतना ही कारगर होगा, जितना राजनीतिक धरातल पर?

डॉ॰ प्रदीप कुमार : यह सवाल हर जगह पूछा जा रहा है, लगातार पूछा जा रहा है, कि दलित एवं पिछड़ा वर्ग क्या एक झण्डे तले आ सकता है। लेकिन इसका समाधान निरन्तर प्रक्रिया में निकलेगा, तत्काल नहीं। दलित और पिछड़ा वर्ग कभी एक साथ आयेंगे, कभी अलग होंगे तो कभी टकराव की स्थिति में होगें। इस प्रक्रिया से गुजरकर ही कोई समाधान निकलेगा।

डॉ० राजेश कुमार : दलित विमर्श एवम् आंदोलन में एक निरन्तरता बनी हुई है। इसका वैचारिक आधार भी बहुत समृद्ध है। डॉ॰ अम्बेडकर, महात्मा ज्योतिबा फूले और महात्मा बुद्ध की चिन्तन धारा दलित विमर्श को मजबूती दे रही है। जबकि पिछड़ा वर्ग में ऐसा कोई विमर्श और आन्दोलन निरन्तरता में दिखाई नहीं पड़ता। जबकि सामाजिक रूप से यह समाज दलित समाज से बेहतर स्थिति में रहा है। पिछड़ा वर्ग की सामाजिक स्थिति और संख्या बल को देखते हुए पिछड़ा वर्ग से ब्राह्मणवाद के विरुद्ध प्रतिरोध की अपेक्षा रही है।

डॉ॰ प्रदीप कुमार : जोतिबा फूले और बाबा साहब अम्बेडकर से लेकर एम. एन. श्री निवास, गोपाल गुरु, कांचा इलैया सुरेन्द्र जोड विवेक कुमार एवम् अन्य बुद्धिजीवी इस प्रश्न पर लगातार अपनी नजर बनाये हुए है कि मध्यम जातियों के पास संख्या बल बहुत है लेकिन विचारधारा के स्तर पर दिवालियापन है। सांस्कृतिकरण के अलावा इन्होंने कभी संघर्ष का कोई मार्ग नहीं अपनाया। चूंकि इनके साथ अस्पृश्यता की समस्या नही रही अत: ये आसानी ने द्विज समाज में घुल-मिल जाते रहे।

डॉ॰ राजेश कुमार : क्या आपको सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया गैर-जरूरी लगती है अथवा सामाजिक संरचनाओं के बदलने में इसका कोई महत्त्व है।

डॉ॰ प्रदीप कुमार : सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया का महत्त्व तो है, लेकिन पिछड़ा वर्ग के लिए ही इस प्रक्रिया ने मार्ग प्रशस्त किया है। दलित समाज के लिए सांस्कृतिकरण में अस्पृश्यता का कलंक बाधक है। सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया के कारण मध्यम जातियाँ दलित जातियों से जुड़ने के बजाय द्विज समाज में अपने लिए आज भी जगह तलाश रही हैं।

डॉ॰ राजेश कुमार : सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया मध्यम जातियों तक ही सीमित नहीं रहीं, बल्कि कुछ एक दलित जातियों का भी सांस्कृतिकरण हुआ। कहीं-कहीं पूरी जाति का सांस्कृतिकरण तो नहीं हुआ लेकिन विभिन्न जातियों के कुछ परिवारों का सांस्कृतिकरण अवश्य हुआ। इस प्रक्रिया के अंतर्गत 'सरनेम' अडॉप्ट (ग्रहण) करने की मुहिम भी कुछ जातियों में शुरू हुई। इस मुहिम के मूल में जातीय-श्रेष्ठताबोध और जातीय हीनताबोध था। इस मुहिम ने जातीय-श्रेष्ठताबोध के आरक्षण को चुनौती दी कि कुछ सरनेम द्विज जातियों तक ही सीमित क्यों रहें?

दलित जातियाँ इस बात को अच्छी तरह समझ रही थीं कि भारतीय समाज में 'सरनेम' जातिव्यवस्था का एक प्रमुख औजार है। 'सरनेम' विभिन्न जातियों की ब्रांडिग का सूचक है। जिस प्रकार सांप्रदायिक दंगों में 'दाढ़ी' और 'टोपी' से पहचानकर मुसलमानों की हत्या होती है अथवा 'पगड़ी' और दाढ़ी' से पहचानकर सिक्खों की हत्या होती है, उसी प्रकार 'सरनेम' से पहचानकर दलितों का उत्पीड़न होता रहा है। दलित जातियाँ यह भी समझ रही थीं कि जाति व्यवस्था अभी समाप्त होने वाली नहीं है जाति रहित समाज को यूटोपिया अभी साकार होने वाला नहीं है। अत: कुछ दलित जातियों ने सवर्ण जातियों के 'सरनेम' ग्रहण (अडाप्ट) कर लिए। उदाहरण के लिए 'चौहान' सरनेम राजपूत लगाते थे लेकिन आज राजपूत, धोबी, भंगी, चमार एवं अन्य जातियाँ भी चौहान सरनेम लगाती है। अत: अब इस सरनेम के आधार पर व्यक्ति की जातिगत पहचान के विषय में दावे के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। संस्कृतिकरण को आप एक रणनीति के रूप में देखते हैं, जातीय श्रेष्ठताबोध के रूप में देखते हैं अथवा जातीय हीनताबोध के रूप में देखते हैं?

डॉ॰ प्रदीप कुमार : सांस्क्रितिकरण की प्रक्रिया बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में ही स्थापित हो चुकी थी। मध्यम जातियों को इसमें अपनी प्रबल संभावनाएँ नज़र आईं। दलित जातियों, विशेष रूप से अस्पृश्य जातियों को उस तरह की संभावनाएँ नज़र नहीं आईं। अत: दलित जातियों ने इस जाति व्यवस्था को ही उखाड़ फेंकने का संकल्प लिया क्योंकि उन्हें इस व्यवस्था में स्वीकृति नहीं

मिलती। इस संदर्भ में 1936 में बाबा साहब डॉ॰ अम्बेडकर का व्याख्यान (जो अप्रकाशित रहा) जो बाद में एक पुस्तक Annkhelation of Caste (जाति उन्मूलन) के रूप में प्रकाशित हुआ, इसके अतिरिक्त इन तमाम सवालों का मूल समानता और गरीमामई अस्मिता व व्यवहार में छिपा है। अगर इनमें से कोई भी साकार उपकरण के तौर पर कारगर होता है तो उसे नहीं लगता कि फिर किसी को कोई खास आपत्ति होगी। अगर फिर भी कोई आपत्ति होगी तो वह इतनी तीखी रही होगी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

डॉ॰ राजेश कुमार : यह बात ठीक है कि वर्णव्यवस्था एवं जाति व्यवस्था में दलितों के लिए कोई जगह नहीं रही और जातिव्यवस्था को उखाड़ फेंकना ही एकमात्र समाधान है। लेकिन जब तक यह जातिव्यवस्था बनी हुई है तब तक द्विज-जातियों के श्रेष्ठताबोध (सरनेम से जुड़ा हुआ श्रेष्ठताबोध) को चुनौती देना जारी रखा जा सकता है। यदि द्विज जातियाँ अपना 'सरनेम' छोड़ने को तैयार नहीं होती तो दलित पिछड़ी जातियाँ उनके सरनेम अडॉप्ट कर सकती हैं।

डॉ॰ प्रदीप कमार : 'सरनेम' को लेकर द्विज जातियाँ अपना एकाधिकार मानती रही हैं। उन्हें लगता है कि इस एकाधिकार के टूटने से 'सरनेम' के साथ जुड़ा पवित्रता का सिद्धांत (तथाकथित पवित्रता को बोध) भंग हो जाएगा। इस एकाधिकार और पवित्रताबोध को बनाए रखने के लिए सवर्ण जातियों का टकराव विभिन्न दलित जातियों से हुआ। जाटवों और यादवों के साथ सवर्ण जातियों के ऐसे झगड़े हुए। इसी प्रकार पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 'नोनिया' नामक जाति (जो नमक बेचने का काम करती थी।) के साथ हुआ। नोनिया जाति के लोगों ने अपने नाम के आगे 'चौहान' लगाना शुरू कर दिया। वहाँ के राजपूतों ने उनके साथ मार-पीट शुरू कर दी। मामला रफा-दफा हो गया। लेकिन आठ-दस साल बाद नोनिया जाति के लोगों ने फिर से चौहान सरनेम लगाना शुरू कर दिया। राजपूत बैकफुट पर थे, मार-पीट के लिए कोई आगे नहीं आया। तबके नोनिया आज के चौहान हैं। इतिहास में इस तरह के संघर्ष मिलते हैं, इनका कोई एक पैटर्न नहीं है। कभी इसमें सफलता मिलती है और कभी असफलता। 'एकरूपता का न होना' दलित आन्दोलन की (ब्यूटी) खूबसूरती भी है। राजनीतिक समाज में एकरूपता हो सकती है लेकिन जातीय समाज में विविधता है। जातीय समाज में बहुआयामी टकराव की स्थितियाँ मिलती हैं।

डाँ राजेश कुमार : 'दलित समाज की विविधता उसकी ब्यूटी है' आपका यह कहना बिल्कुल सही है। लेकिन विमर्श, आन्दोलन और राजनीति के विभिन्न मंचों पर दलितों का एकजुट न होना उनके संघर्ष को और लम्बा कर देता है। पिछले तीस-चालीस वर्षों में जो दलित साहित्य और विमर्श सामने आया है, क्या उसमें दलित एकता की संभावनाएँ नज़र आती हैं?

डॉ॰ प्रदीप कुमार : मैं औपचारिक रूप से साहित्य का विद्यार्थी नहीं रहा। साहित्य के क्षेत्र में मेरा अध्ययन भी सीमित है, फिर भी इस विमर्श से मैंने जो समझा है, वह यह है कि पहले हम विविधता में एकता की बात करते थे, लेकिन आज का दौर बहुसंस्कृतिवाद का दौर है। विभिन्न जातियों की अपनी-अपनी संस्कृति है, जिसे बहुसंस्कृतिवाद के रूप में देखा जा सकता है। विभिन्न जातियों की विविध संस्कृतियों को किसी एक साँचे में ढालने पर क्यों जोर दिया जा रहा है? विभिन्न जातियों पर संस्कृति का एक सुपरस्ट्रकचर 'ऊपर' की ओर भी आने दिया जाए, इससे जातियों और संस्कृति का लोकतांत्रिकरण भी होगा। एकता के नाम पर ऊपर से थोपना लोकतंत्र के विरूद्ध है, भिन्नता को स्वीकारने से लोकतंत्र मजबूत होगा और रही बात एकता की तो इतिहास गवाह है कि हर समाज में कुछ मुद्दे हमेशा से राजनीतिक एकता की सम्भावना प्रबल करते हैं। तो दलित आन्दोलन को भी इससे घबराने की जरूरत नहीं है।

डॉ॰ राजेश कुमार : आपके कथन का क्या अर्थ निकाला जा सकता है कि विभिन्न दलित जातियों की भिन्न स्थितियों और बहुसंस्कृति के कारण बसपा के झण्डे तले दस-बारह प्रतिशत दलित जातियाँ ही आ सकती हैं?

डॉ॰ प्रदीप कुमार : हर राजनीतिक दल चाहता है कि समाज के सभी वर्गों के तमाम लोग उनके झण्डे तले आ जाएँ। लेकिन ऐसा नहीं होता। ऐसा भी नहीं होता कि किसी एक जाति के 100% मतदाता एक ही पार्टी के झण्डे तले आ जाएँ। 10-12% दलित जातियों एवं अन्य जातियों को एक झण्डे तले लामबद्ध करना बसपा के प्रयासों का परिणाम है। हालांकि अभी पर्याप्त प्रयास नहीं हुए हैं। अभी तक जो दलित जातियाँ बसपा के साथ नहीं आई हैं, बसपा को उनकी बात भी सुननी होगी। लोकतांत्रिकरण तभी होगा जब उनकी बात भी सुनी जाए। लोकतंत्र ऊपर से थोपा जा सकता है, लेकिन लोकतांत्रिकरण तभी होगा जब उनकी भी सुनी जाए। अन्य जातियाँ भी बसपा के मंच पर आएँगी या नहीं? बसपा की रणनीति क्या होगी? यह भविष्य बतायेगा।

डॉ॰ राजेश कमार एवं डॉ॰ प्रवीण कुमार : धन्यवाद प्रदीप जी, इन तमाम विषयों पर विस्तार से अपनी बात रखने के लिए।

रंगबाज तेरे शहर में

रंगबाजों के चाक पर...

डॉ. प्रवीण कुमार से डॉ. राजेश कुमार एवं डॉ. मुन्ना पाण्डेय की बातचीत
विशेष संदर्भ : छबीला रंगबाज का शहर – डॉ. प्रवीण कुमार

डॉ. राजेश कुमार : प्रवीण जी, इससे पहले कि हम आपके कहानी संकलन पर बात शुरू करें, आप अपनी रचना-प्रक्रिया के विषय में कुछ बताइये।

डॉ॰ प्रवीण कुमार : मैंने घोर निराशा के समय में लिखना शुरू किया था। स्थाई नौकरी थी नहीं, गैस्ट-एडहॉक चल रहा था, असुरक्षाबोध से घिरा हुआ था। उस बोध को हटाकर कुछ रचनात्मक करने के उद्देश्य से मैंने कहानियाँ लिखनी शुरू कीं। सन् 2008 से मेरे दिमाग में कहानियों का सेट-अप तैयार होता चला गया। ये कहानियाँ मुझे संघर्ष और निराशा के दौर से उबारने वाली कहानियाँ हैं।

डॉ॰ राजेश कुमार : आप अपने संघर्ष के दौर की कहानियों और सफलता के दौर की कहानियों में स्वयं कोई अंतर देखते हैं?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : संघर्ष के दौर के बाद अभी जो कहानी लिखी हैं, वो है–'एक राजा था जो सीताफल से डरता था' इस कहानी का अवधारणात्मक हिस्सा ज्यादा मजबूत है। कहानियों में अनुभव का पक्ष तो रहता ही है। लेकिन मेरी सोच में कोई बुनियादी बदलाव नहीं हुआ। समाज और राजनीति को लेकर जो निराशा थी, वह आज भी ज्यों की त्यों बरकरार है।

डॉ॰ मुन्ना कु॰ पाण्डेय : दैनिक जागरण ने आपकी किताब को बेस्ट सेलर घोषित किया और इस वर्ष विजयमोहन सिंह युवा कथा सम्मान भी आपको मिला, आपको बधाई।

अभी आपने बताया कि आपने एक खास मनः स्थिति (निराशा के दौर में) में लिखना शुरू किया। आपकी कहानियों (विशेष रूप से छबीला रंगबाज का शहर) के पात्र भारत में सर्व सुलभ है लेकिन आप अपनी कहानियों के पात्र एक खास क्षेत्र के गाँव-कस्बे से ही चुनते हैं, क्या शहर में इस तरह के पात्र नहीं मिलते? दूसरा प्रश्न यह है कि आपको स्वयं के कहानीकार होने की भनक कब लगी?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : आपके पहले प्रश्न के जवाब में यही कहूँगा कि किसी कहानी का भाषा-विधान आस-पास के लोगों और अनुभवों से तय होता है। मेरी कहानियाँ दिल्ली के स्लम पर भी हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के उन युवाओं पर भी हैं, जो बागी हैं, छबीला रंगबाज़ का शहर बिहार से जुड़ा हैं। भाषिक विधान अनुभव की

प्रक्रिया में गुज़रता है, उसी दौरान बिंब आपको पकड़ लेते हैं। जब बिंबों की आवृत्ति बार-बार होती है तो वे कहानी का रूप ले लेते हैं। विचार इसमें अनुस्युत हो जाते हैं। यूँ तो पात्र आप कहीं से भी उठा सकते हैं लेकिन लेखक के अनुभव जहाँ उसे ले गये हैं, वहाँ से पात्रों को उठाना कहानी का मजबूत पक्ष होता है।

कहानीकार होने की भनक मुझे 2008 के आस-पास लगी थी। जब आप लिखने की तैयारी करते हैं तो आपको खुद भी पता नहीं होता कि आप कविता लिखने जा रहे हैं या कहानी अथवा कुछ और। मैं जब तीन-चार पन्ने लिख गया, जब मुझे एहसास हुआ कि यह तो कहानी बन रही है। आज भी जब मैं लिखने बैठता हूँ तो मुझे पता नहीं होता कि इसका स्वरूप क्या होगा? हालांकि कहानीकार होने का एहसास मुझे अभी तक नहीं है।

डॉ॰ मुन्ना कु० पाण्डेय : पहले कहानी संग्रह से ही आपने इतनी लोकप्रियता बटोर ली है कि आप पर रचनात्मक दबाव भी काफी होगा?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : दबाव तो हैं। स्वयं प्रकाश जी ने कहा था कि 'आप लिखोगे तो अब उतनी चर्चाएँ नहीं होंगी। इससे घबराना मत।' सुधीश पचौरी कहते हैं–'महानता के चक्कर में बहुत नहीं पड़ना चाहिए।' सहज अभिव्यक्ति, संतुलन और ईमानदारी हो तो अच्छा लिखा जा सकता है। देखिए गारंटी लेकर तो कोई नहीं लिख सकता। रचनात्मक ऊर्जा और इच्छा हो तो लेखक दबावों से बाहर निकल जाता है।

डॉ॰ राजेश कुमार : अभी मुन्ना पाण्डेय ने भी कहा कि आपको पहले संकलन से ही खूब लोकप्रियता मिली है इसमें सबसे ज्यादा चर्चा शीर्षक कहानी 'छबीला रंगबाज का शहर' पर हुई है। इन चर्चाओं में एक अजीब सी बात हुई कि 'छबीला' और रंगबाज' दोनों को एक साथ जोड़ दिया है। जबकि कहानी में 'छबीला' अलग अस्मिता है और 'रंगबाज' अलग है। 'छबीला' रंगबाज नहीं है, बल्कि पीड़ित है लेकिन कहानी का शीर्षक भी इस पीड़ित की पहचान को रंगबाजी के रंग से ढक देता है। कहानी की चर्चाओं में भी यही हुआ कि 'छबीला' पर बात नहीं हुई रंगबाजी पर बात हुई। कहीं-कहीं तो भ्रम की स्थिति पैदा कर दी गई। सुधीश पचौरी सरीखे आलोचकों ने भी 'छबीला' को ही रंगबाज घोषित कर दिया। जबकि केन्द्र में 'छबीला' को होना चाहिए। छबीला की 'पीड़ित' पहचान को पीछे धकेल दिये जाने को आप लेखकीय चूक मानते हैं अथवा आपने जान-बूझकर ऐसा शीर्षक रखा? क्या आप ऐसे शीर्षक के ज़ोखिम से परिचित थे, आपने जानबूझकर यह शीर्षक रखा? अथवा आपने एक प्रतीक के रूप में शीर्षक गढ़ा है कि यह व्यवस्था पीड़ितों को ही रंगबाज घोषित करके उनकी हत्या कर देती है।

डॉ॰ प्रवीण कुमार : देखिए, मैंने पूरी कोशिश है कि छबीला के 'त्रासद' पक्ष को दिखा सकूँ। छबीला का दृश्य याद कीजिए–छबीला अकेले में कैसे रो रहा है, ऋषभ छबीला की पीठ पर लंबे-लंबे निशान (उत्पीड़न के निशान) देखता है। कहानी के अन्त में मैंने बताया है कि एक हत्या हुई है, कोई यह कह भी नहीं सकता कि लाश किसकी है? अपनी तरफ से मैंने त्रासदी को उभारने की भरसक कोशिश की है। हाँ मैंने यह भी दिखाया है कि रंगबाजी थोड़ा उस पर चढ़ गई है। आलोचकों ने यह सब नहीं देखा तो उसमें मेरा कोई कसूर नहीं। यदि लोगों को 'छबीला' ही 'रंगबाज' लगता है तो मैं यही कहूँगा कि यह आलोचना की त्रासदी है कहानी की नहीं।

डॉ॰ राजेश कुमार : यह त्रासदी केवल आलोचना की ही है अथवा पूरी व्यवस्था में यह त्रास्दी व्याप्त है?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : सुधीश पचौरी जी के अलावा संजीव, प्रियदर्शन और ओम थानवी (इन तीनों) ने त्रासदी के उस पक्ष को सामने रखा है। लेकिन कई बार भाषा थोड़ा आगे निकल जाती है और त्रासदी पीछे छूट जाती है। जैसा कि रागदरबारी और काशी का अस्सी के संदर्भ में आप देख सकते हैं। लेकिन इसमें लेखकीय ईमानदारी पर प्रश्न खड़ा करने की जरूरत मुझे नहीं लगती। लेखक जो दिखाना चाहता, ठीक उसके उल्टा लोग देख रहे हैं।

डॉ॰ मुन्ना पाण्डेय : आपकी कहानी का 'लादेन' भी मारा जाएगा और छबीला भी मारा जाएगा।' क्या यह आपकी कहानी का सोचा-समझा आयोजन है? अथवा समाज और राजनीति तंत्र की स्थितियाँ ही ऐसी हैं कि जो तर्क की बात करेगा, उसे मार दिया जाएगा?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : देखिए, बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं है। 'राम की शक्तिपूजा' के राम, 'मैला आँचल' के बावन दास और 'गोदान' के होरी ये आधुनिक साहित्य की रचनाशीलता के प्रवेशद्वार हैं। त्रासिदयाँ बदली नहीं हैं, चेहरा और पात्र बदले हैं लेकिन उनकी त्रासदी यही है। एक सामंती समाज में सबसे शरीफ, ईमानदार और तर्कशील प्राणी का जिन्दा रहना अपने आपमें एक उपलब्धि है। मुझे नहीं लगता कि हमने पिछले 70 वर्षों में आम आदमी की आवाज़ और तर्कों को बुलन्द किया है उल्टे हमने दबाया ही है। मुझे लगता है कि मरना उनकी नियति नहीं है लेकिन परिस्थितियाँ उन्हें मृतप्राय हो जाने के लिए हाशिए पर धकेल रही हैं। यह हमारे लोकतन्त्र की सबसे बड़ी खामी है।

डॉ॰ राजेश कुमार : अभी आपने दो महत्त्वपूर्ण बातें कहीं—एक तो यह कि भाषा आगे निकल जाती है, त्रासदी पीछे छूट जाती है। दूसरी यह कि ईमानदार और तर्कशील प्राणी का जिन्दा रहना अपने आपमें एक उपलब्धि है अन्यथा उसकी

त्रासदी ही सामने आती है। इन दोनों बातों के बीच एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी छिपा है कि कहानी में तर्कशील प्राणी की त्रासदी का कारण भाषा का कौतुक अर्थात भाषा का आगे निकल जाना है? पीड़ित के पक्ष में खड़े लोगों का खड़ा होना भी भाषा की तरह आगे निकल जाता है, भाषा का कौतुक बनकर रह जाता है, एक नारा बनकर रहा जाता है? यह नारा राजनीति के काम खूब आता है। आपकी क्या राय है?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : देखिए, यदि आप छबीला रंगबाज से ये उम्मीद कर रहे हैं तो प्रश्न बड़ा हो जाएगा। इसके साथ तीन कहानियाँ और भी हैं। लादेन ओझा की हसरतें। नया जफरनामा और छबीला रंगबाज का शहर तीनों कहानियों को मिलाकर ही आपके प्रश्न का जवाब दिया जा सकता है। छबीला के साथ अरूप जैसा क्षेत्रीय स्तर का कमजोर पत्रकार है, लादेन ओझा के साथ कमजोर और बूढ़े मुसलमान हैं और 'नया जफरनामा' के ज़फर के साथ नई पार्टी का अवसरवादी नेता है और एक प्रगतिशील विचारों का मास्टर है। कहानी में पीड़ित के पक्ष में खड़े लोग खुद बहुत कमजोर हैं, वे किसी बड़े राजनीति दल के सदस्य नहीं हैं। औसत जमीन पर जीने वाले छोटी-छोटी महत्त्वाकांक्षाओं के लोग हैं। एक औसत ही औसत का साथ देता है, जो थोड़ा भी ताकतवर है, वह परिवर्तन-विरोधियों के साथ खड़ा है।

डॉ॰ मुन्ना पाण्डेय : आपकी कहानी की भाषा और शिल्प की लगभग सभी ने बड़ी तारीफ की है। क्या आपको अपने भाषा शिल्प और किस्सागोई पर बड़े लेखक का प्रभाव लगता है?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : देखिए, उदयप्रकाश के कहने की अनुपस्थिति है-यह बात संजीव और सुधीश पचौरी कहते हैं कि उदय प्रकाश की छाया नहीं है। कुछ लोगों का मानना है कि मनोहर श्याम जोशी और काशीनाथ सिंह का संयुक्त प्रभाव है। लेकिन मैं अभी तक यह नहीं जान पाया कि मेरी कहानियों के शिल्प की प्रशंसा की मुख्य वजह क्या है। कहानी लिखते समय ये टूल्स दिमाग में उतने सक्रिय नहीं रहते कि मैं उनकी अलग सी पहचान कर पाऊँ। प्रभाव किसका है, यह चार कहानियों से तय नहीं होगा।

डॉ॰ मुन्ना पाण्डेय : आप स्वयं को किसी के नजदीक खड़ा पाते हैं?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : देखिए, कथ्य शैली में मैं मनोहर श्याम जोशी जैसा कुछ करना चाहूँगा क्योंकि नैरेशन की जो क्षमता मनोहर श्याम जोशी में है, वैसी क्षमता आज के एक-दो रचनाकारों में ही है, लेकिन नाम लेना ठीक नहीं होगा। लेकिन मनोहर श्याम जोशी से जुड़ने की अभी मेरी क्षमता भी नहीं है।

डॉ॰ राजेश कुमार : 'भाषा-शैली' मनोहर श्याम जोशी की हो या आपकी भाषा का संबंध कहानी के चरित्रों के साथ बनता है। मनोहर श्याम जोशी की भाषा और नैरेशन अपने पात्रों के साथ तटस्थता का व्यवहार करते हैं, उनकी भाषा पात्रों

के प्रति भावुक नहीं होती। आपके नैरेशन में भी कहीं-कहीं तटस्थता दिखती है, वही संभावना दिखती है। हालांकि सुधीश पचौरी का मानना है कि आप अपनी कहानियों में कहीं-कहीं नॉस्टेलज़िक होते हैं, भावुक होते हैं। आपको क्या लगता है, आपकी भाषा आपको पात्रों से तटस्थ कर देती है, पात्रों के प्रति आपका भाषा-व्यवहार तटस्थ है, आप नॉस्टेलेज़िक हैं या फिर आप यह मानते हैं भाषा इतनी तटस्थ हो जाती है कि वह पात्रों के प्रति क्रूर लगने लगती है? तीनों पहलुओं पर विचार करते हुए अपनी बात रखें।

डॉ॰ प्रवीण कुमार : मुझे लगता है कि चरित्रों के हिसाब से तटस्थता बनती है। दूसरा यह कि लेखकीय तटस्थता को एक गुण माना गया है। लेकिन मुझे लगता है कि यदि कहानी में शुरू से अंत तक तटस्थत रहेगी, तो किसी त्रासदी का जन्म नहीं हो पाएगा।

डॉ॰ राजेश कुमार : लेकिन जैसे ही तटस्थता पीछे छूटती है, भाषा बदल जाती है।

डॉ॰ प्रवीण कुमार : हाँ तो मैं उतना नॉस्टेलेजिक होने का आरोप बर्दाश्त करने को तैयार हूँ। क्योंकि मुझे कहीं न कहीं प्रतिबद्ध तो रहना ही होगा, मैं डिक्शनरी तो लिख नहीं रहा। और कहानी के अनुरूप टूल्स भी बदलते रहते हैं।

डॉ॰ राजेश कुमार : यह बदलाव तो आपकी चारों कहानियों में दिखाई देता है। 'छबीला रंगबाज' और 'नया जफरनामा' में भाषा का प्रयोग परिवेश रचने के लिए किया गया है, उस परिवेश के भूगोल का इतिहास भी लेखक ने नैरेट किया है, इसकी जिम्मेदारी पात्रों के भरोसे नहीं छोड़ी है। भाषा द्वारा परिवेश को रचना चिलैक्स लीलाधारी में ठीक वैसे नहीं रचा जा रहा है और न लेखक के नैरेशन से। क्या इस कहानी में परिवेश की जरूरत नहीं थी अथवा यह आपकी किसी रणनीति का हिस्सा था?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : देखिए, चरित्र का व्यवहार और सोच ही कहानी का परिवेश है। और वह धीरे-धीरे खुलता है। पिता-पुत्र के संबंधों अथवा अन्य लोगों के साथ संबंधों में। पहली तीन कहानियों में परिवेश शुरू में ही रच दिया था लेकिन चिलैक्स लीलाधारी में यह परिवेश कहानी के अंत तक खुलता चलता है। इसमें मैं यह भी जोड़ना चाहूँगा कि इस कहानी की भाषा अन्य कहानियों की तुलना में अधिक क्रिस्पी है। भाषा में मैंने एक प्रयोग किया है, यह कितना सफल है, यह तो आप बताएँगे।

डॉ॰ मुन्ना पाण्डेय : आप पेशे से एक शिक्षक भी हैं, क्या कहानी लिखते समय आपको अपने पाठक के रूप में विद्यार्थी भी ध्यान में रहते हैं?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : हाँ, थोड़ा ध्यान रहता है। कुछ रचनाकारों को शिक्षक न होने के कारण लाभ मिलता है कि वे वर्जित दृश्यों को भी कहानी में सहजता से रच लेते हैं लेकिन ऐसे दृश्यों को लेकर मेरे हाथ-पाँव फूल जाते हैं। मेरे लिए यह एक तरह की घेराबन्दी है, जिसे तोड़ना मेरे लिए अभी मुश्किल है।

डॉ॰ मुन्ना पाण्डेय : छबीला रंगबाज लिखकर आपने पहले ओवर में ही 36 रन मार दिए है। आपकी भावी रचनाओं पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा? छबीला रंगबाज का दोहराव तो नहीं होगा।

डॉ॰ प्रवीण कुमार : मेरे गुरु हैं–रामेश्वर राय। वे कहते हैं कि अच्छा कहानीकार वह है जो बार-बार अपने ही बनाए हुए शिल्प को तोड़े। मेरी अगली कहानी का शिल्प विधान एकदम अलग है। मुझे लगता है कि हर कहानी नया शिल्प लेकर आती है। यदि आवृत्ति हो गई तो समझें कि लेखक खत्म हो गया।

डॉ॰ मुन्ना पाण्डेय : आपने लंबी कहानियाँ लिखी हैं, छबीला रंगबाज तो 90 पृष्ठ की है। क्या आपको लगता है कि एक दिन आपकी लंबी कहानियों से उपन्यास भी निकलेगा?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : अभी मेरी कहानियाँ पाइप लाइन में है मुझे लगता है कि मैं इन कहानियों के बाद उपन्यास लिखूँगा और शायद कहानियों पर कभी लौट न पाऊँ।

डॉ॰ राजेश कुमार : आपकी शुरूआती कहानियों, विशेष रूप से 'छबीला रंगबाज का शहर' के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न छूट रहा है, इसे भी चर्चा में शामिल कर लेते हैं। लेखक पीड़ित (छबीला) की आवाज बनकर उसके पक्ष में खड़ा दिखाई दे रहा है। लेकिन इस आवाज को कई आयामों से समझने की जरूरत है। हिन्दी जगत में दलित लेखन के साथ एक विवाद भी आया-स्वानुभूति बनाम सहानुभूति। इस विवाद ने गैरदलित रचनाकारों की दलित विषयक रचनाओं के पुनर्पाठ किए और प्रेमचन्द, निराला, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और अमृतलाल नागर सरीखे रचनाकारों को संदेह के कठघरे में खड़ा कर दिया। क्या आपको लगता है कि भविष्य में छबीला रंगबाज... के भी इस तरह के पाठ संभव है, छबीला के प्रति लेखक की सहानुभूति को क्या संदेह की दृष्टि से देखा जाएगा? प्रश्न यह भी हो सकता है कि भविष्य में यदि 'छबीला' स्वयं अपनी कहानी लिखेगा तो वह आपकी कहानी से कितनी अलग होगी? अथवा छबीला की कहानी को किस हद तक डॉ॰ प्रवीण कुमार की कहानी बनकर रहना होगा?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : देखिए, अगर छोटे कस्बों में आपका लंबा अनुभव रहा हो तो आपने भी महसूस किया होगा छबीला हमारे लिए अजनबी नहीं है। मैंने असंख्य छबीलाओं को देखा है। हो सकता है, जब छबीला अपनी आत्मकथा लिखे,

मैं किनारे कर दिया जाऊँ। लेकिन हर लेखक का अपना दृष्टिकोण होता है। समाज का अपराधीकरण, विशेष रूप से युवाओं में बढ़ते अपराधीकरण को मैंने देखा है। मैंने उस शहर को देखा है, जहाँ नवसामंतवाद उभर रहा है, ग्लोबलाइजेशन आ रहा है और कई तरह की नई समस्याएँ पैदा हो रही हैं। ऐसे में छबीला एक भटका हुआ युवा है। ऐसा युवा आपको दिल्ली के गली-मोहल्ले से लेकर बिहार, उत्तर प्रदेश और पंजाब में मिल जाएगा। छबीला जितना दिखा है, उसकी त्रासदी को जितना मैंने मसहूस किया है, उतना मैंने लिख दिया है। अब जब छबीला लिखेगा तो देखा जाएगा।

डॉ॰ राजेश कुमार : जैसा कि आपने अभी कहा–'जब छबीला अपनी आत्मकथा लिखेगा तब संभव है कि आपको किनारे कर दिया जाए।' अंतिम प्रश्न यही है कि यह किनारा छबीला के अनुभव संसार की परिधि के भीतर होगा अथवा यह किनारा परिधि के बाहर बहुत दूर होगा? जिस प्रकार आज 'प्रेमचन्द दलितों के मसीहा' न होकर 'सामंतों के मुंशी' हैं। क्या उसी प्रकार भविष्य में आपको छबीला का हितैषी न मानकर रंगबाजों का मुंशी माना जाएगा?

डॉ॰ प्रवीण कुमार : देखिए, हर दौर में लेखक अपने समय की गवाहियाँ छोड़ जाता है। ये गवाहियाँ सच्ची मानी जाएंगी कि झूठी, यह तो आने वाला समय ही बताएगा। इस पर तो अंतिम टिप्पणी प्रेमचंद नहीं दे पाएं तो मैं क्या चीज हूँ। यह तो आने वाला समय ही बतायेगा। इस पर तो मैं कोई अंतिम टिप्पणी नहीं दे सकता।

वेद में जिनका हवाला...

वेद में जिनका हवाला हाशिये पर भी नहीं
वे अभागे आस्था विश्वास लेकर क्या करें

लोकरंजन हो जहाँ शम्बूक-वध की आड़ में
उस व्यवस्था का घृणित इतिहास लेकर क्या करें

कितना प्रतिगामी रहा भोगे हुए क्षण का इतिहास
त्रासदी, कुंठा, घुटन, संत्रास लेकर क्या करें

बुद्धिजीवी के यहाँ सूखे का मतलब और है
ठूँठ में भी सेक्स का एहसास लेकर क्या करें

गर्म रोटी की महक पागल बना देती मुझे
पारलौकिक प्यार का मधुमास लेकर क्या करें

अदम गोंडवी
साभार

एक और एकलव्य

डॉ. मंजुला दास
प्राचार्या, सत्यवती कॉलेज

रात का अँधेरा धीरे-धीरे धरती को सहमा रहा था। बाहर बारिश की तीव्रता बढ़ती जा रही थी। अचानक शिव की निगाह भटकती-सी घड़ी की ओर चली गई। ''बारह....'' एक दीर्घ निःश्वास मुख से निकल पड़ा। कब तब ढोना पड़ेगा यह स्वाभिमान, यह झूठा अहंकार। इसका अब मोल ही क्या रह गया है। आजकल बी. ए. जैसी साधारण डिग्रियाँ, शायद केवल अपने को भुलावे में रखने का माध्यम रह गई हैं। फिर वह तो पी-एच. डी. कर रहा है। शिव अक्सर स्वयं से एकान्त में उलझ बैठता है। क्यों कर रहा है, वह समय का अपव्यय।

उसके परिवार में चमड़े का व्यवसाय है आमदनी ठीक-ठाक हो ही जाती है। घरवाले प्रारम्भ में बहुत नाराज हुए-''उसके सामने बड़े भाई का उदाहरण लगी-लगाई थाली-सा परोस दिया गया। शिव को बहुत सिहरन हुई। कितनी आशा-आकांक्षाओं के साथ उसने पढ़ाई शुरु की थी। उसके सपने, उसका भविष्य, क्या दुकान की गद्दी पर जाकर चुक जाएँगे। वह इस अन्त को नहीं पहुँचना चाहता। कभी अपने मौन विद्रोह द्वारा और एक दो बार कुछ तीखे वाक्यों के माध्यम से उसने जब घर वालों के सामने अपना दृष्टिकोण रखना चाहा तो बहस की गर्मी और मनोमालिन्य बढ़ गया। स्कूली शिक्षा तक जिस शिव के चेहरे पर शरारत और आँखों में तरलता भरी रहती थी, उसके मुख पर वीरानी झपट्टे मारने लगी। आँखों के सागर गहरे तक सूख गए। साल के आत्मविश्वास का स्थान एक नामालूम-सौ लंगड़ाहट ने ले लिया। अब प्रायः बातचीत में आश्वस्त विनम्रता की अपेक्षा व्यंग्य का जहर उछल जाता था। ऐसे ही किन्हीं क्षणों में उसने एक संकल्प किया कि वह घर से पैसा नहीं लेगा। अब कभी टाइप का काम करते हुए तो कभी अनुवाद का काम करते हुए और कभी-कभी तो किताबों पर जिल्द चढ़ा, ट्यूशन आदि से, उसने किसी प्रकार अपना खर्च चलाना शुरु कर दिया।

बचपन में एक बार शिव ने कहीं पढ़ा था या किसी से सुना था कि किसी को टुकड़े-टुकड़े करके मारने या काटने से तो अच्छा है, एक झटके में समाप्त कर दो। कम-से-कम तकलीफ तो कम हो जाएगी। किन्तु आज इस बेरहम जिन्दगी से वह लड़ भी तो नहीं सकता, जो उसे धीरे-धीरे तोड़कर, गलाकर आनन्द लेने की कोशिश कर रही थी। जब भी चार पैसे के लिए कोई छोटा-मोटा काम करने पर विवश होता, उसकी अन्तरात्मा कराह उठती-''क्या इसी दिन के लिए इतने परिश्रम

से पढ़ना प्रारम्भ किया था?'' वह शिक्षकों की प्रशंसा, सहपाठियों की आँखों में अपने लिए उभरती ईर्ष्या-मिश्रित सराहना की भावना, प्रेमिका के हृदय का अभिमान भूल न पाता। आज कहाँ खो गया था वह सब? सामाजिक खाई और बेकारी ने उसके पाँव तले से पहले सुरक्षा खींची थी, फिर उसके भोले-भाले प्रेम का भी गला घोंटकर रख दिया था।

आज भी स्मृति में है वह दिन, जब सुमन का विवाह होने वाला था। कितना रोई थी वह शिव के अंक में गिरकर। कितनी ही बार शिव का खून नहीं खौला था-इस सामाजिक असमानता के कारण। वह बेकार नवयुवक। क्या खिलाएगा भला सुमन को, उसके माता-पिता को क्या भरोसा दे सकता था वह। अपनी पराजय के खेल में मुँह डाले, बहुत कष्ट से उसने एक-एक शब्द उगला था-'' सुमन कितना तो सुख उठाया है हमने जीवन से, अब यदि समय और साथ नहीं दे रहा तो ऐसे ही सही। मुझे भूलकर, सुख से रहो तुम। हमारा एक साथ चलना और न हो सकेगा।'' इन दार्शनिक शब्दों की निरर्थकता, उसके हृदय पर हथौड़े-सी बरस रही थी। जब उसने सुमन की आँखों में झाँका तो वहाँ एक विचित्र-सा हक्का-बक्का भाव, एक अविश्वास और घुटन अनुभव हुई। जाने किस क्षण, वह धीमे-से स्वयं को छुड़ाकर चली गई। जब भी वह क्षण याद आता है, शिव को लगता है-वह अपने आप को कभी क्षमा न कर पाएगा।

इस घटना के बाद से उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया। हर समय वह किसी भी धर्म और सामाजिक व्यवस्था की धज्जियाँ उड़ाता मिल जाता। जीवन की आस्था और समर्पण का स्थान, लापरवाह दृष्टिकोण और 'खाओ, पीओ मौज उड़ाओ' के सिद्धान्त ने ले लिया था। जो भी नारी निकट आने का प्रयत्न करती, एक छलावा प्रतीत होती।

जिन दिनों वह एम.फिल. परीक्षाओं की तैयारी कर रहा था, फिर एक धीमी-सी आशा की किरण जागी। संभवत: नौकरी मिल ही जाए। वह बहुत परिश्रम से शोध कार्य कर रहा था। तभी देखा, अचानक विभागाध्यक्ष ने तरह-तरह के काम बताने शुरु कर दिया। स्टेशन से टिकट, दुकान से सब्जी, फल पड़े हुए बिलों को पास करना, जमा कराना-करते-करते एक विचित्र-सी कुण्ठा से भर जाता। पसीने से लथपथ, फिर पढ़ने की भी इच्छा नहीं होती। एक प्रश्न-सा जैसे हवा में टंका रह जाता। क्या शिक्षा में शोषण के अतिरिक्त कुछ बचा ही नहीं है?

कुछ समय पूर्व यूनिवर्सिटी के बाहर चिपके बड़े-बड़े पोस्टर याद आ जाते, जिसमें एक शोध निर्देशक को निलम्बित करने की पुरजोर अपील थी। अनेक हड़तालों, छात्र-प्रदर्शनों, विचारोत्तेजक लेखों के पश्चात् कहीं जाकर इस दिशा में कोई ठोस कदम उठाया जा सका था। उस निर्देशक के कारण, एक छात्रा को

आत्महत्या करने पर विवश होना पड़ा था। कैसी है यह दुनिया। प्राय: लोग यह दिखाते अवश्य हैं कि वे शोषण नहीं करना चाहते, किन्तु मूल में वही भेड़िये की लोलुप दृष्टि छिपी पड़ी है। शिव को अभी भूला तो नहीं है। वह प्राध्यापक जो शाम ढले एक लड़की के साथ, कमरे से निकला तो लड़की के मुख पर हवाइयाँ उड़ रही थीं और चौकीदार को घूरते पाकर, प्राध्यापक ने शीघ्रता से दस का नोट, उसकी मुट्ठी में थमा दिया।

तो क्या ये लोग ही राष्ट्रीय चरित्र निर्मित करेंगे?

पिछले दिनों की ही तो बात है, जब शिव के मित्र सुन्दर शर्मा का विवाह था। बेचारा कानपुर में नौकरी, कर रहा था और परिवार दिल्ली में। यह नौकरी पाने से पूर्व बहाए गए, उसके आँसुओं को शिव भूलता नहीं है। कितना घुट जाता था वह भीतर ही भीतर, जब सुन्दर अपने शोध निर्देशक के शोषण की कथा सुनाने लगता। कभी वह व्यवस्था से चिढ़ता, कभी शिक्षा नीति पर लानतें भेजता। सुन्दर को अपने भविष्य का ध्यान था। बेचारा चुपचाप जाता, कभी निर्देशक द्वारा बताए कार्य करता तो कभी घर पर बच्चे खिलाता। उसमें और एक नौकर में जैसे कोई अन्तर ही नहीं रह गया था। निर्देशक की पत्नी अक्सर ही हाथ में झोला थमा देती–''जरा बाजार से मूलियाँ, आलू, प्याज लेते आना।'' पालतू कुत्ते की तरह सुन्दर चल देता, कल्पना में नाच रहा होता–घर, माँ–बाप और छोटी बहन, उनके बेजान चेहरे और चमगादड़ी उम्मीदें। यहाँ तक कि सुन्दर जब भी हसरतभरी दृष्टि डालता तो फूलों और सुन्दर दृश्यों पर नहीं, ऐसी दृष्टि तो वह रेलवे लाइन के नीम अँधेरे और यमुना नदी के पुल पर डालता। फिर शिव को झिंझोड़ देता–''और कोई राह नहीं है क्या?'' एक दिन सब्जी लाने पर कुछ सामान ठीक न पाकर, निर्देशक की पत्नी आग बबूला–सी हो गई। क्रोध में आकर उन्होंने थैला उठाकर सुन्दर के मुँह पर दे मारा। वह बेचारा तभी–तभी कोयले की बोरी लेकर लौटा था। गर्मी के कारण शरीर से बेतरह पसीना चू रहा था। अपमान के कारण खून के आँसू उतर आए थे सुन्दर की आँखों में। पर बुझी–सी आग की वह दृष्टि उस अनपढ़ औरत को न झुलसा सकी।

उस दिन शिव हताश–सा कागज पर लकीरे खींच रहा था कि सुन्दर निकट आकर उसके कन्धे पर सिर रखकर फूट–फूटकर रो पड़ा था। शिव मन–ही–मन क्रोध से उबल पड़ा था, पर अपना आक्रोश सुन्दर पर भी नहीं निकाल पाया। यही सोचता रह गया कि आखिर आदमी को कितने समझौते करते पड़ते हैं, इस जीवन में।

संभवत: तीसरी या चौथी कक्षा में पढ़ते समय उसके हृदय में क्या–क्या उमंगें झूलती थीं। उनका कोई सम्बन्धी तभी–तभी डॉक्टर बना था। इतना छोटा होते हुए भी शिव सोचता – मैं भी डॉक्टर बनूँगा, रोगियों का इलाज करूँगा। अध्यापकों का

वह प्रिय छात्र था और उसकी बुद्धि की प्रशंसा की जाती। धीरे-धीरे उसके मन में यह विचार बैठ गया कि उसे कुछ करना है, कुछ बनकर दिखाना है। इसीलिए, अपने इलाके के मित्रों के सामने वह गर्व से सिर ऊँचा करके चलता रहा, उन्हें अपने से तुच्छ समझता हुआ।

''क्या हो तुम लोग, बस कपड़ा काटते-नापते ही जीवन बीतेगा तुम्हारा।'' वह सुधीर पर कटाक्ष करता, ''और तुम, विशाल, तुम्हारी वे कविताएँ, वे ऊँचे-ऊँचे सपने, सारे क्लर्की की चक्की में पिसने के लिए थे?'' पहले यही लोग अपनी आर्थिक विवशता का रोना रोते सिर झुका लिया करते थे। उसकी ओर उम्मीदों की कंदील-सी जलाए देखा करते। इतने वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् अब शिव को स्पष्ट ही महसूस होता, उनकी दृष्टि में व्यंग्य और उपहास का भाव झाँक रहा है। एकाध बार सुधीर झल्ला भी पड़ा-''चुप कर न यार, तूने कौन-से तीर मार लिए पढ़-पढ़कर। इससे तो हम अच्छे, किसी के मुहताज तो नहीं है।''

उनके कथन की सच्चाई को मन-ही-मन परखता शिव बहुत उदास हो गया था। रिक्शा वाले, छोले-भठूरे और चाय बेचने वाले तक उसे स्वयं से अच्छे प्रतीत होते। कम-से-कम इनके जीवन की कुछ सार्थकता तो है।

जहाँ भी सामान्य-सी आशा की किरण दिखाई देती वह एकदम आवेदन-पत्र लिखकर भेज देता। फिर एक सुखद प्रतीक्षा में डूब जाता। न तो कहीं से बुलावा आता, न उसकी प्रतीक्षा के दिन घटते। धीरे-धीरे यह क्रम भी उसे एकरस और ऊबाऊ लगने लगा। कब तक चलेगा यह छलावा? इसी बीच विभाग में एक स्थान रिक्त हुआ। उसका सपना था कि वह चुन लिया जाएगा, क्योंकि इस विषय पर उसका पूर्ण अधिकार था। इन्टरव्यू अच्छा हुआ, सभी ने बहुत प्रशंसा की, पर जब परिणाम घोषित हुआ तो ज्ञात हुआ कि सुहास चुन लिया गया है। वही सुहास, जिसे विषय का ककहरा भी नहीं आता था, पर सिफारिश की ताकत ने उसे कहाँ-से-कहाँ पहुँचा दिया था।

इस घटना के कारण व्यथित होकर अपने एक मित्र के कहने पर वह मछली के व्यवसाय में लग गया था। पर इस ठेकेदारी से उसे कोई लाभ न हुआ, अपितु बहुत अधिक मेहनत और रूखा-सूखा खाने के कारण स्वास्थ्य भी गिर गया। उसे ऐसा लगता था मन के अनुसार काम न मिलने के कारण ही उसकी यह दशा हुई है। जीवन में इतनी कुंठाएँ भी झेलनी होंगी, यह पहले कब जाना था। कितनी ही बार निराशा में शोध-कार्य छोड़ने का संकल्प कर बैठा था। पर निर्देशक द्वारा उत्साह दिलाने पर फिर करने लगता। उसने कभी खुशामदी व्यवहार न रखा, न ही अध्यक्ष के आगे-पीछे घूमने में रुचि दिखाई, इसके विपरीत एक बार, जब उसे भी अध्यक्ष ने सुन्दर के समान ही, घर के और इधर-उधर के काम बताने

की कोशिश की तो बहुत साहस से शिव ने कहा–''मुझे नहीं करना यह सब। मेरी पढ़ाई में विघ्न पड़ता है और याद रखिए, इस प्रकार से गुलामी मुझसे होगी भी नहीं।'' अध्यक्ष की क्रुद्ध दृष्टि की उसने कोई चिन्ता न की। यह सब कह चुकने के बाद उसे परम सन्तोष का अनुभव हुआ। ऐसा लगा जैसे निरीह सुन्दर का बदला ले लिया हो। उसकी तरह गुलामी कर ली होती, तो आज वह भी कहीं प्राध्यापक बन चुका होता, पर किस मूल्य पर। सब कुछ हो जाए, पर मुझसे आत्मसम्मान न बेचा जाएगा। आज उसी आत्मसम्मान को बचाने के लिए उसने फिर कलम हाथ में ले ली है। 'जब तक हो सके, मैं हार नहीं मानूँगा। कर लेने दो आज के द्रोणाचार्यों को अन्याय और हक के अंगूठे कटते रहने दो। मैं वह एकलव्य हूँ, जो अंगूठा क्या, हाथ भी कट जाए तो भी विश्वास और दृढ़ संकल्प के चरणों से लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न करता रहेगा।'

फसल

हल की तरह
कुदाल की तरह
या खुरपी की तरह
पकड़ भी लूँ कलम तो
फिर भी फसल काटने
मिलेगी नहीं हम को ।

हम तो जमीन ही तैयार कर पायेंगे
क्रांतिबीज बोने कुछ बिरले ही आयेंगे
हरा-भरा वही करेंगें मेरे श्रम को
सिलसिला मिलेगा आगे मेरे क्रम को ।

कल जो भी फसल उगेगी, लहलहाएगी
मेरे ना रहने पर भी
हवा से इठलाएगी
तब मेरी आत्मा सुनहरी धूप बन बरसेगी
जिन्होंने बीज बोए थे
उन्हीं के चरण परसेगी
काटेंगे उसे जो फिर वो ही उसे बोएंगे
हम तो कहीं धरती के नीचे दबे सोयेंगे ।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना
साभार

बू

डॉ. मनोज कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

जिस तरह बाढ़ के उतरते पानी के बाद
नदियों के किनारे पड़े अधगले शव सड़ांध मारते हैं
कुछ इस तरह कि, 'बू' कल रात जगा गई
मुझे महसूस हुआ
मेरे नथुनों में बासी हवा भर गई है उतनी ही बदबूदार
जितनी बिना अंत्येष्टि के बास मारती
कोई साप्ताहिक लाश
मैं बेचैन होने लगा
और मेरी जिज्ञासु बुद्धि गंध के कारणों की
टोह लेने के लिए तड़पने लगी
तभी संसद
के विधान की
ओर मेरी नजर टिक गई
जिसे पिछले सत्तर वर्षो से सौ
बार से ज्यादा
सर्जरी की जरूरत पड़ चुकी थी
क्योंकि इसकी धाराएँ न जाति को मानती थी
ना जनेऊ को जानती थी
बस उखड़ी हुई साँसों को पहचानती थीं
शायद 'बू' का एक कारण ये भी था
लेकिन दूषित हवा बढ़ती गई, प्रश्न गहराता गया,
नींद टिमटिमाती गई
इसलिए मैंने उत्तर पाने की
एक और कोशिश की
क्योंकि मेरी खोपड़ी के भीतर पड़ा हुआ दिमाग
खाली रेगिस्तान तालाब भर नहीं था
जरूर था कुछ ऐसा
जिसके लिए मैं अरूणाँचल से

कच्छ के रण तक खूब भटका
मुझे हर तरफ चीख पुकार सुनाई दी
कहीं सांप्रदायिकता की आग में
पुरुष का निचला हिस्सा झुलसा मिला
तो कहीं उन्मादित सांड उसी माँद पर
झपट्टा मारने को तैयार दिखे
जिस पर मक्खियाँ भिन-भिना रहीं थीं
लेकिन इस बार भी मैं संतुष्ट नहीं था
इसलिए मैंने एक ओर नजर दौड़ाई
अस्पताल के अहातों में बच्चों की जातों में
मुझे भ्रूणों का एक एकदम
ताजा गोदाम मिला
कुछ अजन्मी बच्चियों के जिस्म
जो किसी माँ ने खराब अंग की तरह
काटकर फेंक दिये थे
फिर भी न जाने क्यों मुझे
किसी डॉक्टर के मरे जमीर पर पड़े
एप्रन की गंध नहीं आई
मेरा जी मितलाने लगा
और मुझे
वॉमेटिंग की आशंका हुई
क्योंकि मेरा दिल यह मानने
को नहीं था तैयार
कि इन छोटी-छोटी बातों से
उखड़ी है मेरी नींद
मैंने एक और कोशिश की
तो मुझे नवीं मुम्बई में कुछ
नये लोग मिले
सिंगूर नंदीग्राम और दादरी में
हिंदुस्तान के सबसे बड़े रोग मिले
मतलब भूख-गरीबी और बेबसी
लेकिन अब भी मेरा ज्ञान अधूरा था
और भोर का तारा आसमान में अभी पूरा था

आँखे किसी शून्य में टिकी
खोज रहीं थी कुछ और ही
तभी ललाती भोर में एक झंडा दिखा
जिसका डंडा आदमी की
पसलियों पर टिका हुआ था
और उसकी बाँहें
आसमान को समेटने की
हसरत में उठी
धीरे-धीरे गिर रही थी जमीन पर
अब मुझे धीरे-धीरे उस 'बू'
का रहस्य समझ में आ रहा था
कि आसमान में उछलने वाली
हर मुट्ठी में न बारूद होता है
जिससे दुनिया बदल जाए
मिट जाए अंधेरा और हो सवेरा
सूरज का मतलब दिन ही नहीं होता
होती है रात हर सुबह
जब-जब-चलती है हवा
उठती हे 'बू'
जब कोई क्रांती असमय लेट जाती है अर्थी पर।

अक्टूबर-2006

मेरा समय

मेरा जन्म
झूठ-फरेब, द्वेष-ईर्ष्या के
उस जंगल में हुआ
जहाँ भेड़ियों की हुकूमत चलती थी
जहाँ दो सियार श्मशान की
अधजली लाश पर झपट पड़ते थे
और नोच-नोच कर ले जाते थे
गरम-गरम गोश्त अपनी दुर्भिक्षा को
शांत करने के लिए

और कभी जब इनका पेट नहीं भरता
तो मुँह मारा फिरते थे
जंघाओं के कपाट में बंद चूल्हे में
कभी कब्रिस्तान में रोते हुए मिलते
पढ़ते हुए फातिहा अपनी ही कब्र पर
दो लठैतों के संग करते हुए बँटवारा
उन्हीं ताबूतों का जिनमें
वे वर्षों पहले दफनाए गए थे
और सुबह अधसड़ी लाश
मेरे घर के पिछवाड़े
पड़ी हुई महकती
जिसे देख पूरा मुहल्ला फुसफुसाकर
सो जाता था जानवरों के संग
वैसी ही नींद में,
जैसे कोई मुर्दा
किसी अस्पताल के स्ट्रेचर पर,
मैं रोज पढ़ता था
अखबार की सबसे उत्तेजक खबर
लेकिन मेरा पौरुष भी
अंतिम पन्ने की लहराती
उसी रंगीन दुनिया में सिमट जाता था
जहाँ सदी का महानायक
हाजमोला बेचा करता था,
मुझे रोज सुनाई देता था
जंगल का लाउड स्पीकर
जिससे आवाज आती थी
हर-हर महादेव, अल्लह-हो-अकबर की
फिर शाम होते ही दफना दिए जाते कुछ हिंदू
जला दिए जाते थे कुछ मुस्लिम
और फिर सड़क वीरान हो जाती थीं
उन चित्तकबरों की आहट पाते ही

जो अपनी जंग लगी बंदूक लिए
उधर ही जाते थे
जहाँ साफ-साफ मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा होता था
आर्मी नॉट एलाउड हेयर
हर शाम को शोक सभाएँ होतीं
और रेडियो पर अपील करता
एक औघड़ शांति का
जैसे श्मशान में चिता पर बैठ
कर रहा हो कोई साधना सिद्धि की
उनकी साधना सफल भी होती थी
क्योंकि छोटे-मोटे जीव-जंतु
बड़े-बड़े जानवरों को सौंप देते थे
पंचवर्षीय योजनाओं के साथ-साथ अपने सपने
मेरा जन्म
इतिहास के उसी कपाट में हुआ
जहाँ जिंदा मुर्दे थे और मुर्दे जिंदा
जहाँ अयोध्या से गोधरा तक
आदमी की लाश पर भगवा लहराता था
भागलपुर, पंजाब, कश्मीर के बीच
मैं रोज मरता था जीता था
जहाँ जहानाबाद और गोहाना में
'गो' की तरह रोते जाते थे कुछ सिरफिरे
जिन्हें हुकूमत से बगावत
करने की छूट नहीं थी,
जहाँ जंगल के बीचोंबीच बना चिड़ियाघर
घायल आजादी के किले पर लहराता झुका तिरंगा
रोज ही शोक दिवस मनाता था
मुम्बई की लोकल ट्रेनें
क्षत-विक्षत शव लिए
उसी रफ्तार में चलती थी
जैसे स्टॉक एक्सचेंज के सेंसेक्स में

वर्षों पहले जमा कर दी गई थीं
कुछ खोपड़ियाँ जिनसे जंगल के जानवर
फुटबाल का खेल खेला करते थे
और हुकूमत आई.एस.आई. मार्का लगा
अपनी ही जीत में चौंधियाई फिरती थी
मेरा जन्म विश्वविद्यालय के ऐसे खंडहरों में हुआ
जहाँ अपनी जमीन के लिए लड़ने वाला
नक्सली कहलाता था
(क्या जल-जंगल जमीन का हक माँगने वाला नक्सली होता है?)
बावजूद नक्सली लड़ाई के
आंध्रा से पंजाब तक
किसानों की गर्दनें
बैंकों के दरवाजों पर
नींबू मिर्च की माफिक लटकी रहती
फिर भी शनि शांत नहीं होता था,
जहाँ छात्रों पर लाठियाँ बरसाई जातीं
और शिक्षक हार्ट-अटैक से
मार दिये जाते
जहाँ स्त्री मुक्ति की हवा बंद
कमरों में गूँजती
और सुबह ब्रेक-फास्ट की
टेबल पर कहती खबर
सामूहिक बलात्कार की शिकार युवती
पुलिस स्टेशन में जाँच जारी।
जहाँ अंधा कानून तारीख-पर-तारीख देते-देते
खुद की तारीख हो चुका था
और पुलिस स्टेशन के भीतर टंगी
मुस्कुराती तस्वीर गाँधी की
जैसे अब भी कहती थी
शांति ओम शांति

सितम्बर 2005

जाल और ह्रदय सुलझाते मछुआरे

डॉ. मुकेश मानस
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

1

पहली बार सागर में नाव उतारते हुए
ओ मछुआरे क्या तुम्हारा भी दिल धड़का होगा
जैसे अपनी प्रेमिका को पहली बार प्रेम का शब्द कहते
धड़कता है किसी प्रेमी का दिल
हर बार सागर में नाव उतारते हुए
क्या तुम्हें ठीक वैसा ही डर लगता होगा
जैसे लगा था पहली बार पानी में नाव उतारते
सागर के अथाह सीने पर
अपनी डोलती नौका को सँभालते हुए
क्या डोल नहीं जाता होगा साहस तुम्हारा
सागर में नाव उतारते ही
जैसे छूट जाती है धरती
क्या छूट नहीं जाता होगा
तुम्हारा घर और उसके सपने
सागर के बीचों-बीच जैसे याद आती होगी धरती
क्या याद नहीं आते होंगे
अपने बच्चे, पत्नी और अपना घर
कैसा लगता होगा सागर में उतरना
और धरती का छूट जाना
छूट जाना अपने बच्चों, पत्नी और घर का।

2

मैं उन्हें बड़ी देर तक देखता रहा
वे सुलझा रहे हैं अपना जाल और अपना ह्रदय
जो हर बार समन्दर में जाने से पहले उलझ सा जाता है

रख दिया है उन्होंने नाव पर मछली पकड़ने का जरूरी सामान
और फटी-पुरानी मटमैली सी लाईफ जैकेट्स भी
हर तरफ से और हर तरह से देखभाल कर अपनी नाव को
वे समन्दर में जाने को तैयार हैं
मगर अभी कुछ बाकी है जिसे वे समझ नहीं पा रहे हैं
उनके बच्चे कूदते फांदते हुए चले गये हैं उन्हें विदा कहकर
पत्नियों ने दूर से ही माँग लिया समन्दर से
उनके जीते रहने का वरदान
फिर भी कुछ ऐसा है, जो उन्हें मथ रहा है भीतर तक
जिसे भुलाने के लिए वे मसल रहे हैं तंबाकू
और कश ले रहे हैं जेब में रखी आखिरी सूखी बीड़ी का
वे कर रहे हैं एक दूसरे के साथ हँसी मजाक
वहाँ बैठा था एक बूढ़ा मछुआरा समन्दर की ओर आँखे बंद किए
अचानक उसने उठाया अपना हाथ समन्दर की दिशा में
और एक हुंकारे के साथ एक लय और ताल में
मछुआरों ने डाल दी अपनी नाव समन्दर में
नाव पर टंगी फिरनियां लहरने लगीं किसी ध्वज सी
गुम हो गए मछुआरे धीरे-धीरे समन्दर में
और नाव स्थिर सी हो गयी दूर समन्दर के क्षितिज में
इस तरह जाते हैं मछुआरे समन्दर में

3

किनारे पर ही बैठा रह गया एक बूढ़ा मछुआरा
तरसती निगाहों से समन्दर में जाती हुई
डोलती नाव को देखता हुआ एकटक
समन्दर में उठती हुई लहरों की उँचाई नापता हुआ
नमक से बेकार हो गये अपने पाँव हिलाता हुआ
मगर मछलियां तो अब भी उसके बाजुओं में डोलती हैं
किनारे पर रह गया है तो क्या?
वह अब भी एक चुनौती है समन्दर के लिए

4

वे अभी-अभी लौटकर आये हैं सुदूर समुद्र से
हिचकोले खाती अपनी नाव और डोलते हृदय के साथ
उनके बाजुओं में उछल रही हैं पकड़ी हुई मछलियां
अभी-अभी ले गयी हैं मछुआरिनें
जिन्हें अपने-अपने टोकरों में
वे अभी-अभी लौटे हैं सुदूर समन्दर से
मगर कोई थकन नहीं है उनकी देह में
न आँखों में उतरा है अभी जरा भी आलसपन
वे समन्दर में उलझ गये अपने जाल को सुलझा रहे हैं
जैसे सुलझाते हैं रोज-रोज अपनी जिन्दगी
उनके सीने जितने भरे हैं साहस की अपूर्व गाथाओं से
उतनी ही झर रही है नमी उनकी आर्द्र आँखों से
वे अपने-अपने बच्चों से ऐसे लाड़ कर रहे हैं
मानो वर्षों बाद कहीं से आकर मिले हों अचानक
झलक रहा है अदभुत प्यार उनके अजीब शब्दों में
जिन्हें वो चाह कर भी कह नहीं पा रहे उनके सही उच्चारण में
उन्होंने अभी-अभी शांति की एक सांस ली है
मानो कोई बड़ी लड़ाई जीत कर रुके हों एक पल
उन्होंने पलट कर देखा है ममता भरी निगाह से
तेज दहाड़ें मारकर किनारे पर टूटती लहरों को
अलविदा प्यारे समन्दर कल आएँगे फिर से

16 दिसम्बर, 2013
संघमुघम तट पर, त्रिवेन्द्रम यात्रा

जि़ंदगी से फिर एक
वादा मैंने कर लिया,
उड़ते-उड़ते फिर एक
लम्हा मैंने पकड़ लिया..।।

गुलजार
साभार

पिता-पुत्री

डॉ. रत्नेश त्रिपाठी
असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग

आओ बेटी तुम्हें दुनिया दिखाता हूँ
मैं जानता हूँ मेरी अभी की दिखाई दुनिया
तुझे कल बदली हुई लगेगी
मैं बस पुस्तैनी संस्कार को आगे बढ़ाना चाहता हूँ
मेरे पिता ने मुझे बताया था
औरत देवी का रूप होती है
मैं आजतक नतमस्तक हूँ
उनकी सोच को दुनिया पुरानी कहती है
जमाना बदल गया है बेटी
अब औरत देवी नहीं भोग हो गयी है
क्योंकि जमाना पिता के समय से
मेरे समय तक बदल चुका है
जब तुम बड़ी होगी तब तक
मेरा जमाना भी बदल चुका होगा
लेकिन ये याद रखना
ये पढ़ा लिखा जमाना देवी को नहीं
राक्षस बनकर भोग को मानता है
तुझे अब काली बनना होगा
तेरा वैभव तुझे बताता हूँ
आओ बेटी मैं तुझे दुनिया दिखाता हूँ।।1।।

तू केवल इन्सान से नहीं
भगवान से भी लड़ कर आयी है
मेरे गर्व मेरे माता-पिता के संस्कार की प्रतिमूर्ति है तू
तुझे बचाना मेरे बस में शायद हो न हो
इस पढ़े-लिखे राक्षस जमाने से
लड़ने की हिम्मत देना मेरे बस में है
तुझे लड़ने का सलीका सिखाता हूँ
आओ बेटी मैं तुझे दुनिया दिखाता हूँ।।2।।

तूने आज मेरी अंगुली इसलिये नहीं पकड़ी
कि मैं कोई देवता हूँ
बल्कि इसलिये क्योंकि मेरे माता-पिता देवता हैं
अगर मुझे पढ़ा-लिखा कर वो संस्कार न देते
तो आज तू इस धरती पर न होती
पढ़े-लिखे लोग स्त्री को
धरती पर आने से पहले ही मार देते हैं
आ तुझे झूठी दुनिया के रंग गिनाता हूँ
आओ बेटी मैं तुझे दुनिया दिखाता हूँ।।3।।

मेरी माँ अनपढ़ है लेकिन उसे भगवान मालूम हैं
उसे धर्म का असली तत्व मालूम है
इसिलिए वो तुझे देवी कहती है
मैं पढ़ा लिखा उसी अनपढ़ की बात मानता हूँ
मैं अपने को पढ़ा लिखा अनपढ़ मानता हूँ
क्योंकि सत्य मैं भी जानता हूँ
आओ बेटी मैं तुझे दुनिया दिखाता हूँ

सूरत

खुद को रोज देखते-देखते
एक दिन आईने ने पूछा
तुम क्यूँ देखते हो खुद को
ये काम तो औरों का है
तुम अपना काम करो
उनकी आँखों में देखो
जो अपने हैं
जो पराये हैं
तब मुझसे ज्यादा विश्वास
तुम्हें औरों की आँखों में दिखेगा
तब तुम्हें आईने की नहीं
सीरत की जरूरत पड़ेगी
और सीरत कभी सूरत
से नहीं आती....

मसीहा

बाँट रहे कम्बल
खिंचा रहे हैं फोटो
ईमानदारी की नयी परिभाषा गढ़ते
ये लोग अच्छा कमा लेते हैं
नाम और पैसा दोनों
ये हर साल मुफ्त कम्बल पे
लाखों करोड़ों कमाते हैं
और ये गरीब हर साल
और गरीब हो जाते हैं
देश का दुर्भाग्य तब और बढ़ जाता है
जब ऐसे लोग सरकार में आ जाते हैं

लोकतंत्र

याद रहता है किसी को!
फुटपाथ पर खेलता
भारत का भविष्य
या याद आती है संसद
जो बनाती है भारत का भविष्य
मुझे तो याद है दोनों
दोनों भीख पर चलते हैं
संसद से इस फुटपाथ तक
यही अंतर है....
एक! रोज अभावों में मरता है
एक! रोज आभावों से मारता है
आज के लोकतंत्र की यही परिभाषा है....

प्रेमचन्द की आँखें अगर काली होती

डॉ. राजेश कुमार चौहान
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

विश्व-साहित्य के मूल्यांकन के संदर्भ में साहित्यकार के जीवन-परिचय का कोई महत्त्व हो अथवा नहीं? भारतीय साहित्य के मूल्यांकन में इसका बड़ा महत्त्व है। साहित्यकार के धर्म, संप्रदाय, वर्ण और जाति की पहचान उसके साहित्य को परत-दर-परत खोलती है और इन पर्तों में छिपे पाठ भी उजागर होने लगते हैं। 'इतिहास का अंत', 'लेखक की मृत्यु' और 'विखण्डन' के उद्घोष विश्व साहित्य के संदर्भ में भले ही पूरी तरह लागू हो जाएँ लेकिन भारतीय-साहित्य के मूल्यांकन में ऐतिहासिक संदर्भों और लेखक का महत्व घटने के बजाय बढ़ा है। भारतीय साहित्य में विभिन्न पाठों के विखण्डन तो खूब हुए हैं लेकिन उनके विखण्डन का प्रमुख आधार लेखक की जातीय, धार्मिक और क्षेत्रीय पहचान है।* प्रेमचन्द के साहित्य का मूल्यांकन इसका बड़ा उदाहरण है। प्रेमचन्द के जीवनी लेखकों ने प्रेमचन्द की जातीय पहचान को ज्यादा महत्व नहीं दिया था। लेकिन आज प्रेमचन्द के आलोचक प्रेमचन्द की 'जात' बताना नहीं भूलते। 'प्रेमचन्द की 'जात' का खुलासा उनकी रचनाओं के पाठ बदल देता है। इन रचनाओं के नए पाठ पुराने पाठों को अपदस्थ कर रहे हैं और पुराने पाठ नए पाठों के प्रति बुरी तरह असहिष्णु हो उठे हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'रंगभूमि' ऐसा उपन्यास है, जिसके सबसे अधिक पाठ हुए। पहले इसका गाँधीवादी पाठ प्रचलित हुआ, फिर इसे स्वाधीनता आंदोलन के दस्तावेज के रूप में पढ़ा गया, प्रगतिशील किस्म के आलोचकों ने इसमें सामंतवाद और जनवाद के द्वंद्व के पाठ को भी प्रमुखता दी। तत्पश्चात इसे औद्योगिक संस्कृति के विरूद्ध पहला और दस्तावेजी उपन्यास घोषित कर दिया गया। जब इसके मूल्यांकन में किसानों की समस्याओं को आरोपित किया गया तो

---

* लेखक का व्यक्ति चरित्र ही नहीं अपितु उसका सामाजिक परिवेश, समाज का चरित्र और भाषिक संस्कार भी रचना और उसके पाठों को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी के मुहावरों को देखें-'कहाँ राजा भोज कहाँ गंगू तेली', 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का', 'अंधी पीसे कुत्ता खाए', 'आँखों के अंधे नाम नैनसुख', 'सत्तर खसम करना', 'जात-कुजात', 'कार्तिक की कुतिया'... इस प्रकार के मुहावरे किसी एक लेखक और व्यक्ति मात्र के चरित्र को ही प्रभावित नहीं करते बल्कि हिन्दी भाषा और समाज के चरित्र के साक्षी हैं। हिन्दी भाषा और समाज का चरित्र किसी भी हिन्दी लेखक और उसकी रचना को प्रभावित कर सकता है। इस प्रभाव से खुद को और अपनी रचना को बचाना किसी भी लेखक के लिए बड़ी चुनौती है।

भूमि-अधिग्रहण बिल पर भी बहस हुई। इस उपन्यास के मूल्यांकन पर पूँजीवाद बनाम समाजवाद के द्वंद्व की छाया भी पड़ी।

उपन्यास के कुछ पाठों को उपन्यास की कथावस्तु के आधार पर ही नकारा गया। उदाहरणस्वरूप किसान संबंधी पाठ देखा जा सकता है-"औद्योगिक व्यवस्था और कृषक व्यवस्था का द्वंद्व तो रंगभूमि में कहीं है ही नहीं। कहीं भी खेती की बात नहीं कही गयी है और न पांडेपुर के किसी बाशिंदे को खेतिहर के रूप में चित्रित किया गया है। पंडा, ग्वाला, ताड़ी के दुकानदार सब हैं लेकिन किसान कोई नहीं है अतः द्वन्द्व का प्रश्न ही नहीं बनता है? फिर पांडेपुर गाँव है या शहर का एक मौहल्ला, प्रेमचंद इसका निर्णय करने में गड़बड़ा गये हैं। कहीं इसे गाँव कहते हैं, मौहल्ला और कहीं शहर। दरअसल यह छोटे-छोटे कारोबारियों की एक बस्ती है, जो विपन्नता में गाँव के निकट है लेकिन गाँव की समस्याओं से पूरी तरह कटा हुआ है। फिर कृषक क्रांति की बात करने का आधार क्या है?''[1]

इसमें कोई दो राय नहीं कि 'रंगभूमि' में न तो किसान हैं और न किसानों की समस्या। यह अलग बात है कि इसकी कथावस्तु के केन्द्र में ऐसी जमीन है, जो कृषियोग्य है। लेकिन यह जमीन 'रंगभूमि' के किसान संबंधी पाठ के लिए पुख्ता जमीन नहीं है, यह बात उपन्यास की कथावस्तु से ही सिद्ध हो जाती है, इसे सिद्ध करने के लिए प्रेमचन्द के निजी जीवन में ताँक-झाँक करने की भी जरूरत नहीं है लेकिन इस उपन्यास के कुछ पाठ तभी खुलते हैं जब प्रेमचन्द के व्यक्तिगत जीवन को आधार बनाया जाता है। उनकी रचनाओं का दलित-विरोधी पाठ करने वाले लेखक-आलोचक उनकी जाति और वर्ण को प्रमुखता देते हैं।

प्रेमचन्द की 125वीं जयन्ती के अवसर पर 31 जुलाई, 2004 को भारतीय दलित साहित्य अकादमी के नेतृत्व में 'रंगभूमि-दहन' हुआ तो साहित्य की दुनिया में भूचाल सा आ गया। अभी तक प्रचलित रंगभूमि के सभी पाठ उपेक्षित हो गये, हर तरफ 'रंगभूमि' के दलित पाठ होने लगे। ये दलित पाठ मुख्यतया दो वर्गों में बँटे हुए थे। एक तरफ प्रेमचन्द को दलितों का मसीहा घोषित किया जा रहा था जबकि दूसरी तरफ उन्हें जातिवादी लेखक माना गया। 'रंगभूमि' और 'कफन' की पहचान दलित विरोधी रचनाओं के रूप में हुई। यह मान लिया गया कि प्रेमचन्द दलित विरोधी होने के साथ-साथ जाति-विशेष के विरूद्ध घृणा के प्रचारक हैं। इस मान्यता की पुष्टि के लिए प्रेमचन्द की रचनाओं के साथ-साथ उनके व्यक्तिगत जीवन को भी आधार बनाया गया। प्रेमचन्द का चरित्र और जाति 'रंगभूमि' के दलित पाठ का मुख्य आधार बन गये। यद्यपि इसके पूर्व भी प्रेमचन्द की रचनाओं के मूल्यांकन में उनकी जीवनी से संदर्भ लिए जाते रहे थे लेकिन इन संदर्भो का उपयोग प्रायः प्रेमचन्द की महानता का बखान करने, उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता सिद्ध

करने और उन्हें दलितों का मसीहा सिद्ध करने के लिए किया जाता था। आज प्रेमचन्द की जीवनी का उपयोग उन्हें दलित-विरोधी, सामंतवादी और जातिवादी सिद्ध करने के लिए किया जा रहा है। पहले प्रेमचन्द की गरीबी का बखान करके यह सिद्ध किया जाता था कि प्रेमचन्द दलीतों की पीड़ा को समझने वाले और उसे वाणी देने वाले लेखक हैं अर्थात 'प्रेमचन्द की गरीबी' और 'दलितों की गरीबी' को एक ही तुला पर तौल दिया जाता था। किसान-जीवन से प्रेमचन्द की निकटता का उल्लेख करके बताया जाता था कि उनके उपन्यासों में चित्रित किसान जीवन ही किसानों का यथार्थ और प्रतिनिधि जीवन है क्योंकि उसका जन्म प्रेमचन्द की कल्पना से नहीं बल्कि उनके अनुभवों से हुआ है। प्रेमचन्द को स्त्री मुक्ति का सच्चा प्रवक्ता सिद्ध करने वाले आलोचक यह बताना नहीं भूलते थे कि प्रेमचन्द ने एक बाल-विधवा से विवाह किया था।

आज प्रेमचन्द के साहित्य के मूल्यांकन में उनकी जीवनी का उपयोग पहले से अधिक होने लगा है, इससे प्रेमचन्द की 'महानता की छवि' खंडित हो रही है। आज के आलोचक प्रेमचन्द को पुरुषवादी सिद्ध करते समय यह बताने लगे हैं कि प्रेमचन्द ने एक पत्नी के होते हुए भी दूसरा विवाह किया था, उन्होंने अपनी पहली पत्नी का जीवन नष्ट कर दिया। उन्होंने आर्य समाज के प्रभाव और अतिउत्साह में एक विधवा से विवाह कर लिया, जिसका उन्हें गहरा पछतावा था, उन्होंने इसे अपनी जीवन की सबसे भयंकर भूल माना था। दो पत्नियों के अलावा उनकी एक रखैल भी थी। प्रेमचन्द की दलित सहानुभूति को फर्जी सिद्ध करने के क्रम में यह बताया जाने लगा है कि प्रेमचन्द की जाति कायस्थ होने के कारण वह ब्राह्मणों के प्रतिद्वंद्वी थे इसीलिए उन्होंने अपनी कहानियों में ब्राह्मणों को खलनायक बनाया। अत: उनके 'ब्राह्मण विरोध' को अब दलित सहानुभूति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा रहा। प्रेमचन्द के किसान-प्रेम को फर्जी बताने के लिए यह बताया जाने लगा है कि प्रेमचन्द ने अपनी बेटी का ब्याह जमींदार परिवार में जमींदारी शान से किया था, उनकी अधिकांश रिश्तेदारियाँ जमींदारों में थीं, उन्होंने स्वयं भी एक जमींदार का जीवन जिया था। कुछ आलोचक उन्हें न तो 'कलम का मजदूर' मानने को तैयार हैं और न ही 'कलम का सिपाही'। डॉ. धर्मवीर ने तो उन्हें उनकी जीवनी के आधार पर 'सामन्त का मुन्शी' घोषित कर दिया है।

प्रेमचन्द की जीवनी का उपयोग जब तक उन्हें महान सिद्ध करने के लिए किया गया तब तक इस उपयोग को स्वाभाविक माना गया। लेकिन जब लेखक के व्यक्तित्व और चरित्र के आधार पर उसकी महानता की छवियों को खण्डित करने के क्रम में उसकी जीवनी का उपयोग किया जाने लगा तो महानता की ग्रंथि के मारे आलोचक विचलित हो गये। अपने महान लेखक की महानता की छवियों को टूटते हुए देखना इन आलोचकों के लिए इसलिए भी पीड़ादायक था कि उन्होंने लेखक

प्रेमचन्द की महानता की पुरानी छवियों को तो जीवन भर ढोया ही था और साथ ही उसकी महानता की नई छवियाँ भी गढ़ी थीं। अतः कुछ पुराने आलोचकों ने नए आलोचकों को हिदायत देने के अंदाज में कहा कि प्रेमचन्द के निजी जीवन के आधार पर की गई आलोचना वास्तव में आलोचना न होकर प्रेमचन्द के चरित्र हनन का प्रयास है, प्रेमचन्द के साहित्य के आधार पर की जाने वाली आलोचना ही उनकी सच्ची आलोचना है। रूपवादी आलोचक ही नहीं अपितु मार्क्सवादी आलोचक भी अप्रत्यक्ष रूप से उत्तर-आधुनिक तर्कों को ही दोहराने लगे। यद्यपि उन्होंने 'लेखक की मृत्यु' और 'इतिहास के अंत' की घोषणा का तो समर्थन नहीं किया लेकिन जाने-अनजाने पाठ-केन्द्रित आलोचना का आग्रह करने लगे और प्रेमचन्द की रचनाओं के दलित पाठ को 'बियांड टेकस्ट', 'साहित्यिक फासिज्म', रचना पर मनगढ़ंत आरोपण, कुपाठ, मिथ्यापाठ घोषित कर दिया। अजय तिवारी सरीखे आलोचकों ने प्रेमचन्द का बचाव करने और डॉ० धर्मवीर सरीखे आलोचकों का विरोध करने के लिए डॉ. धर्मवीर की ही आलोचना पद्धति का अनुसरण किया। कुछ दलित आलोचकों ने भी डॉ. धर्मवीर का विरोध करने के लिए डॉ. धर्मवीर की आलोचना पद्धति अपनाई। डॉ. धर्मवीर के विरोध के लिए उनके निजी जीवन को आधार बनाया गया जबकि वही आलोचक प्रेमचन्द के बचाव में प्रेमचन्द के निजी जीवन का उल्लेख न करने का आग्रह कर रहे थे और वे स्वयं लेखक एवं आलोचकों की निजी जिंदगी में भी ताँक-झाँक कर रहे थे। अजय तिवारी सरीखे आलोचक तो इस ताँक-झाँक को अवधारणाओं की हद तक खींच ले गये- ''प्रेमचन्द को ब्राह्मण विरोधी या दलित विरोधी मानने वाले तरह-तरह के विचारक समाज में विशेषधिकारियों की रक्षा का प्रयत्न करते हैं, विशेषाधिकारों के विरोध में संघर्ष नहीं करते। डॉ. धर्मवीर जो प्रेमचन्द के विरोधी हैं, स्वयं आई.ए.एस. अधिकारी हैं। अगर प्रेमचन्द के जन्म को उनकी चेतना का नियामक बनाया जा सकता है कि वह कायस्थ थे इसलिए उन्होंने ब्राह्मणों का विरोध किया और दलितों को लांछित किया, तो सामाजिक-आर्थिक हैसियत भी चेतना के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है और डॉ. धर्मवीर आई.ए.एस. अफसर के रूप में विशेषाधिकारी वर्ग की चेतना से प्रेमचन्द पर आक्रमण करने में कोई कठनाई महसूस नहीं करते। इसके दो प्रमाण हैं। पहला, डॉ. धर्मवीर ने प्रेमचन्द के साहित्य को नहीं चरित्र को आक्रमण का विषय बनाया है। एक और आई.ए.एस. अधिकारी के विक्रम सिंह हैं, उन्होंने भी जनसत्ता के अपने स्तंभ में प्रेमचन्द के साहित्य को नहीं चरित्र को विषय बनाकर आक्रमण किया है। नयी आई.ए.एस. लॉबी ने प्रेमचन्द के साहित्य की महान उपलब्धियों को तिरस्कृत और लांछित करने की यह रणनीति हिन्दूवादी-प्रतिक्रियावादी विचारकों से ली है। डॉ. कमल किशोर गोयनका ने भी प्रेमचन्द को पाखंडी, झूठा, दहेज प्रथा का समर्थक, भूत-प्रेत में विश्वास करने वाला और सूदखोर जाने क्या-क्या सिद्ध किया।''[2]

यह बहुत दिलचस्प है कि डॉ. धर्मवीर के लिए प्रेमचन्द लेखक बाद में हैं, कायस्थ पहले। इसी प्रकार अजय तिवारी के लिए डॉ. धर्मवीर पहले आई.ए.एस. अफसर हैं, आलोचक बाद में। डॉ. धर्मवीर के अनुसार प्रेमचन्द कायस्थ होने के कारण ब्राह्मणों के प्रतिद्वंद्वी हैं, लेकिन दलित विरोधी भी हैं। इसी प्रकार अजय तिवारी के अनुसार आई.ए.एस. अफसरों की लॉबी प्रेमचन्द का विरोध कर रही है। वह प्रेमचन्द विरोधियों में पहले हिन्दूवादी ताकतों की गणना करते थे, अब प्रेमचंद की रचनाओं के दलित पाठ को वर्चस्ववादी पाठ घोषित करके दलित आलोचकों से साहित्य के मूल्यांकन में पाठकेन्द्रित रहने का आग्रह कर रहे हैं और लेखक की जीवनी का उपयोग करने की मनाही कर रहे हैं। **'रंगभूमि' के 'सूरदास' की भाषा में कहें तो-अभी तक हिन्दी आलोचना ने साहित्य के खेल में खूब मनमानी की थी लेकिन अब कुछ दलित खिलाड़ी कुछ स्त्री और कुछ आदिवासी खिलाड़ियों ने इस साहित्य के खेल में बाजी जीतना शुरू किया तो द्विज आलोचक उनके लिए साहित्य के नये नियम बनाने लगे। लेकिन डॉ. धर्मवीर सरीखे आलोचकों ने द्विज आलोचकों की तो एक न मानी थी और अपने विरोध में बोलने वाले दलित आलोचकों को भी खरी-खरी सुनाई।** डॉ. धर्मवीर ने हिन्दी साहित्य के दलित पाठ के लिए अपने मानदंड विकसित करने की बात की और द्विज आलोचकों द्वारा निर्धारित आलोचना के नये-पुराने मानदंडों को नकार दिया और घोषणा की- ''मैं बिना साहित्य की आलोचना की कसौटी के नहीं हूँ। एक साहित्य की आलोचना है, लेकिन मैंने आलोचना की भी कसौटी खड़ी की है। कसौटी यह कि रचना की आलोचना 'इन्टर-डिसिप्लेनरी' अध्ययन के आधार पर होनी चाहिए और किसी साहित्यकार के समूचे लेखन और चिन्तन का मूल्यांकन उसके व्यक्तित्व और चरित्र से मिलान करके किया जाना चाहिए। आलोचना की यही कसौटी दलित साहित्य के लिए मौजूं बैठती है। किसी साहित्यिक रचना का मूल पाठ शून्य में तैयार नहीं होता। यह सृजन है पर शून्य से शुरू होकर नहीं... यदि पाठ से बाहर नहीं जाया जाएगा तो प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' को समझा ही नहीं जा सकता। बिना पाठ से बाहर गए सन्दर्भ-मूल हाथ लगने वाले नहीं है।''[3]

दलित आलोचना संबंधी डॉ. धर्मवीर की उपर्युक्त घोषणा का विरोध द्विज आलोचक करें, यह स्वाभाविक ही है। लेकिन यह देखना भी दिलचस्प है कि डॉ. धर्मवीर का विरोध करने वाले दलित आलोचक और द्विज आलोचक दोनों ही डॉ. धर्मवीर की आलोचना पद्धति का ही अनुसरण कर रहे हैं। डॉ. धर्मवीर और उनकी आलोचना को 'स्त्री-विरोधी' सिद्ध करने के क्रम में उनके आलोचक यह भी बताते हैं कि डॉ. धर्मवीर और उनकी पत्नी का संबंध समस्याग्रस्त रहा। वह अपनी पत्नी पर शक करते थे, उसे व्यभिचारिणी मानते थे, उन्हें लगता था कि

उनके भाई और उनकी पत्नी के बीच अवैध संबंध रहे हैं। वह पत्नी से तलाक लेना चाहते थे लेकिन कोर्ट में केस हार गये। अतः वह संपूर्ण स्त्री जाति के शत्रु हो गये। उनकी आलोचना स्त्री-विरोधी है। कँवल भारती ने यहाँ तक लिख दिया ''यदि धर्मवीर अपने बच्चों के पिता नहीं बन सके, तो क्या सारे पुरुष उन्हीं जैसे हैं?''[4] कँवल भारती के उपर्युक्त वक्तव्य का क्या अर्थ हो सकता है? डॉ. धर्मवीर का विरोध करने के क्रम में कँवल भारती डॉ. धर्मवीर की ही धारणाओं और मान्यताओं को पुष्ट कर रहे हैं। कँवल भारती डॉ. धर्मवीर को नपुंसक सिद्ध करने के प्रयास में उनकी सन्तानों को अवैध सन्तान घोषित कर गए अर्थात उनकी पत्नी के चरित्र को भी संदिग्ध बना गये। डॉ. धर्मवीर ने भी तो अपनी पत्नी पर यही आरोप लगाया था और कँवल भारती जाने-अनजाने इसी आरोप की पुष्टि कर रहे थे। यह कैसा 'धर्मवीर-विरोध' है? एक तरफ तो 'पाठकेन्द्रित आलोचना' का आग्रह किया जा रहा है, साहित्य के मूल्यांकन में लेखक की जीवनी के उपयोग की मनाही की जा रही है, वहीं दूसरी तरफ आलोचना कर्म में साहित्यकार की रचनाओं पर उसकी जीवनी हावी हो रही है।

दलित आलोचना के अंतर्गत लेखक के जीवन परिचय का महत्व बढ़ना बहुत स्वाभाविक है क्योंकि दलित साहित्य का अधिकांश भाग तो आत्मकथात्मक है। आत्मकथात्मक साहित्य में लेखक के जीवन के संदर्भ पहले से मौजूद हैं, अब यदि आलोचना में इन संदर्भों का महत्व बढ़ जाता है तो स्वाभाविक ही है। दिलचस्प तथ्य तो यह है कि जिस उत्तर-आधुनिक दौर में 'इतिहास के अंत' और 'लेखक की मृत्यु' की घोषणाएँ हुई हैं, उसी दौर में आत्मकथात्मक लेखन का महत्व बढ़ा है, उसी दौर में इतिहास का पुनर्पाठ भी खूब हुआ है। सबाल्टर्न हिस्ट्री लिखे जाने का भी यही दौर है। उत्तर-आधुनिकतावादियों ने यह दावा भी किया कि उत्तर-आधुनिक परिस्थितियों के कारण ही अस्मितामूलक विमर्श संभव हो पाये। यदि इस दावे को सही मान लिया जाए तो प्रेमचन्द, निराला अथवा अमृतलाल नागर सरीखे साहित्यकारों की रचनाओं के दलित पाठ की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि उन साहित्यकारों को उत्तर आधुनिक परिस्थितियाँ मिली ही नहीं थी कि उनकी रचनाओं में अस्मितामूलक विमर्श संभव हो पाता। मार्क्सवादियों ने उत्तर-आधुनिकतावादियों के दावे को नहीं माना और प्रेमचन्द को दलितों का मसीहा घोषित कर दिया। प्रेमचन्द की दलित सहानुभूति को मान्यता देने के लिए उत्तर-आधुनिकतावादियों ने शायद स्वयं भी अपना दावा कुछ देर के लिए भुला दिया।

प्रेमचन्द के साहित्य के मूल्यांकन में उनकी जीवनी का उपयोग पहले भी होता था और आज भी हो रहा है। अतः उनकी रचनाओं के दलित पाठ को नकारने के उद्देश्य से उनकी जीवनी के उपयोग की मनाही करना उचित नहीं है। प्रेमचन्द की

महान छवियाँ गढ़ने, किसानों का मित्र और दलितों का मसीहा सिद्ध करने के क्रम में यदि उनकी जीवनी का उपयोग किया जा सकता है तो उनकी रचनाओं के दलित पाठ में उनकी जीवनी का उपयोग करने में आपत्ति क्यों? जबकि डॉ. शैलेश जैदी ने सिद्ध किया है कि प्रेमचन्द के उपन्यास कहानियों के विभिन्न पात्रों की स्वार्थ-भावना और संकुचित दृष्टि स्वयं प्रेमचन्द का स्वार्थ और संकुचित दृष्टिकोण है। उनके विभिन्न पात्रों के चरित्र में प्रेमचन्द का आत्मचरित रचा-बसा है। 'रंगभूमि' के खल पात्र जॉनसेवक के चरित्र और प्रेमचन्द के आत्मचरित की तुलना करते हुए डॉ. शैलेश जैदी ने लिखा है-''प्रेमचन्द और जॉनसेवक की परिस्थितियों और काम करने के ढंग से बड़ी समानता दिखायी पड़ती है। प्रेमचन्द ने प्रेस लगाने के लिए महताब राय और बलदेव लाल को प्रेस का मुनाफा होने का प्रलोभन देकर एक अच्छी रकम वसूल कर ली। जॉनसेवक ने कुँवर भरत सिंह को इसी प्रकार का लालच दिलाकर ढेर सारे शेयर खरीदने के लिए तैयार कर लिया। प्रेमचन्द ने प्रेस खोलने के लिए अपने प्रयत्नों से डी.ए.वी. स्कूल की भव्य इमारत जो टाउन हाल और पार्क से लगी हुई थी और उस समय भी अर्थात 1923 ई. में साठ-सत्तर रूपये माहवार से कम नहीं मिल सकती थी, केवल बीस रूपये माहवार पर ले ली। जॉनसेवक ने गोदाम से लगी हुई सूरदास की मौके की जमीन ऐसे ही प्रयासों से हथिया ली। प्रेमचन्द ने इमारत पर अधिकार कर लेने के बाद 2 जून 1923 को गोरखपुर से महताब राय को हिदायत की कि वे इमारत के ऊपरी भाग में जो लोग रहते हैं, उनसे मकान खाली करायें और दुकान में पड़ा हुआ ताला खुलवा दें। साथ ही साहित्य विद्यालय के लोगों को प्रेस के अहाते में आने की मनाही कर दें। जॉन सेवक ने भी सूरे की जमीन प्राप्त करके ही सन्तोष नहीं किया, उसने भी पांडेपुर के मकानों को खाली करा लिया। प्रेमचन्द अपने साझीदारों को एक धेला भी न देने की नीयत से सदैव घाटे का रोना रोते रहे। उन्होंने महताबराय को प्रेस में सात हजार रूपये का घाटा उठाने की सूचना दी और प्रेस खोलने पर अफसोस किया। यह समूचा चित्र जॉनसेवक से जुड़कर रंगभूमि में बोल पड़ा है।''[5]

रंगभूमि का रचनाकाल भी वही है जब प्रेमचन्द ने प्रेस लगाई। प्रेस, प्रकाशन और पैसों से जुड़े अपने अनुभवों का उपयोग प्रेमचन्द ने रंगभूमि में किया हो, यह बहुत स्वाभाविक है। डॉ० शैलेश जैदी ने तो यह भी सिद्ध किया है कि रंगभूमि के प्रमुख पात्र सूरदास और मिठुआ के संवाद के माध्यम से प्रेमचन्द ने अपने भाई महताब राय पर चोट की है। रंगभूमि में सूरदास के अंतिम समय में मिठुआ उससे जमीन में अपना हिस्सा माँगता है-''हमारी दस बीघे मौरूसी जमीन थी कि नहीं उसका मुआवजा दो पैसा, चार पैसा कुछ तुमको मिला कि नहीं, उसमें मेरे हाथ क्या लगा? घर में मेरा कुछ हिस्सा होता है या नहीं? हाकिमों से बैर न ठानते, तो उस घर

के सौ से कम न मिलते।''[6] मिठुआ की बातें सुनकर सूरदास भौचक्का रह गया और आहत भी हुआ-''जिसे उसने (सूरदास ने) बाल्यवस्था से बेटे की तरह पाला, जिसके लिए उसने न जाने क्या-क्या कष्ट सहे, वह अन्त समय में आकर उससे अपने हिस्से का दावा कर रहा था।''[7] वास्तव में सूरदास की मनः स्थिति ही प्रेमचन्द की मनः स्थिति है। ''महताब राय इन दिनों प्रेस से अलग ही जाना चाहते थे और अपने हिस्से की रकम के लिए प्रेमचन्द से तकाजे कर रहे थे। गोदान में भी प्रेमचन्द ने इस तथ्य का संकेत किया है और दोनों चित्रों को एकत्र करके देखने पर बात साफ हो जाती है। होरी चौधरी दमड़ी से कहता है-जिनको लड़कों की तरह पाला-पोसा वह अब बराबर के हिस्सेदार हैं, लेकिन भाई का हिस्सा खाने की नीयत नहीं है। इधर तुमसे रूपये मिलेंगे, उधर दोनों भाइयों को बाँट दूँगा।... यद्यपि गोदान की रचना के समय तक बलदेव लाल का निधन हो चुका था फिर भी प्रेमचन्द ने उनके हिस्से की रकम लौटाई नहीं थी। होरी की नीयत भाइयों का हिस्सा खाने के लिए उसे प्रेरित कर रही थी, प्रेमचन्द यह कार्य पहले ही कर चुके थे फलस्वरूप उन्हें होरी की मनः स्थिति पढ़ने में आसानी हुई। सच तो यह है कि प्रेमचन्द को उन पात्रों के चरित्रांकन में सर्वत्र सफलता मिली है, जिनमें उन्होंने युगीन सामाजिक इतिहास के साथ अपने वैयक्तिक इतिहास को समाहित कर दिया है।''[8]

डॉ० शैलेश जैदी ने 'रंगभूमि' के ऐसे ही और कई संदर्भों का उल्लेख किया है, जिनमें प्रेमचन्द का आत्मचरित रचा बसा है। हिन्दी आलोचना में ऐसे उदाहरणों की कोई कमी नहीं है, जिनमें प्रेमचन्द के साहित्य के मूल्यांकन में उनकी जीवनी का उपयोग किया गया है। अतः यहाँ पुनः यह प्रश्न दोहराया जा रहा है कि प्रेमचन्द की रचनाओं के दलित पाठ में उनकी जीवनी के उपयोग की मनाही क्यों की जा रही है? यद्यपि दलित आलोचना को इससे कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। दलित आलोचकों ने प्रेमचन्द के रचना संदर्भों और जीवन संदर्भों का मिलान करते हुए उनकी रचनाओं के दलित पाठ प्रस्तुत किये हैं। इस लेख में रंगभूमि के दलित पाठों का अवलोकन आगे किया जा रहा है।

रंगभूमि : दलित पाठ-1

''हिन्दी साहित्य ही नहीं, संस्कृत साहित्य में भी दलित पात्रों की उपस्थिति मिलती है लेकिन वहाँ दलित पात्रों की निर्मिति सवर्ण पात्रों के निमित्त है। वहाँ केवट इसलिए है ताकि 'राम' को नदी पार कराई जा सके। वहाँ यदि कोई शंबूक अपनी अस्मिता के प्रति सचेत होता है तो उसकी हत्या कर दी जाती है और उस हत्या के लिए भी महानायक को मोक्षदाता कहकर महिमामंडित किया जाता है। एकलव्य शिक्षा ग्रहण करता है तो उसका अंगूठा कटवा लिया जाता है। वहाँ कोई

भी दलित पात्र ऐसा नहीं मिलता, जिसे नायक का पद मिल सके। आचार्यों ने पहले ही निर्धारित कर दिया है कि उच्चकुल का धीरोदात्त गुणों से युक्त पात्र ही नायक हो सकता है। नायक का पद तो बहुत दूर की बात है, वहाँ कोई दलित पात्र इस लायक भी नहीं मिलता कि उसके जीवन में झांक कर उसकी समस्याओं और उनके कारणों को भी समझ लिया जाए।...

प्रेमचन्द के यहाँ पहली बार यह करिश्मा हुआ कि दलित पात्रों और उनकी समस्याओं को केन्द्र में रखकर कथाएँ बुनी जाने लगीं।''[9] किसान, मजदूर, दलित, स्त्री और पिछड़ा वर्ग के पात्रों को नायकत्व मिला। 'रंगभूमि' का नायक जाति से दलित, पेशे से भिखारी और शारीरिक दृष्टि से औसत दर्जे का और दृष्टिबाधित भी है। अर्थात वह सामाजिक श्रेणीक्रम में सबसे निचले पायदान पर आता है लेकिन प्रेमचन्द के कथानायकों में पहले नंबर पर आता है। प्रेमचन्द के कथानायकों में सबसे अधिक जीवंत, साहसी, दृढ़ और जीवट वाला नायक यही सूरदास है। कई हिन्दी आलोचकों ने तो सूरदास के चरित्र में सत्याग्रही महात्मा गाँधी को रचा-बसा पाया। जो द्विज आलोचक गाँधी को एक दलित (चमार) और दृष्टिबाधित के रूप में नहीं देख पा रहे थे, उन्होंने भी सूरदास को नंबर एक पर स्वीकारते हुए सत्याग्रही संत माना।

अजय तिवारी सरीखे आलोचक रंगभूमि पर किसी भी दृष्टि से गाँधीवाद की छाया नहीं स्वीकारना चाहते। अतः उन्होंने रंगभूमि को ही गाँधीवाद के प्रतिवाद के रूप में प्रस्तुत कर दिया है और सूरदास को गाँधी के एंटीथीसिस के रूप में प्रस्तुत किया है- ''जिस चरित्र पर गाँधीवाद का सर्वाधिक प्रभाव माना जाता है वह सूरदास है लेकिन वह गाँधी जी की तरह निष्क्रिय प्रतिरोध का उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता। इसके विपरीत अधिक सक्रिय संघर्ष के भीतर से ही अन्धे भिखारी सूरदास का एक विराट ऐतिहासिक महानायक का पुनर्जन्म होता है। गाँधी जी दमन का सामना करने के लिए दमन में शामिल न होने को ही पर्याप्त समझते थे लेकिन सूरदास दमन का सामना करने के लिए दमन से मुठभेड़ के रास्ते पर अग्रसर होता है। यह सच है कि सूरदास के संघर्ष में जनता के व्यापक हित सम्मिलित हैं। इसलिए अनेक स्तरों पर उसका संघर्ष व्यापक जन-आन्दोलन के रूप में विकसित होता है। संघर्ष का व्यापक जन-आन्दोलन में बदल जाना सूरदास और गाँधीजी के सम्बन्ध का आधार हो सकता है। लेकिन जहाँ व्यापक जनांदोलन हुए वहाँ गाँधी का ही प्रभाव समझना व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नहीं क्योंकि सहजानन्द सरस्वती का किसान आंदोलन गाँधीवाद से बहुत अलग था। बाबा रामचन्द्र का किसान आंदोलन गाँधीवाद से अलग था।''[10]

अधिकांश हिन्दी आलोचकों ने 'सूरदास' को प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ कथानायक माना। कुछ आलोचकों ने गोदान के 'होरी' को सूरदास से ऊपर मानते हुए सूरदास

को नंबर दो पर स्वीकार किया। अधिकांश आलोचकों ने सूरदास को गाँधी के रूप में स्वीकार किया और जो ऐसा नहीं कर पाये उन्होंने भी सूरदास की तुलना गाँधी से करते हुए, उसे गाँधी से थोड़ा आगे और कुछ आलोचको ने उसे गाँधी से थोड़ा पीछे स्वीकार किया। रंगभूमि में यह तो सबने देखा कि प्रेमचन्द ने सवर्ण जातियों के मस्तक को सूरदास के चरणों में झुका दिया। इस बात के लिए द्विज आलोचकों ने प्रेमचन्द का महिमामंडन करते हुए उन्हें दलितों का मसीहा घोषित कर दिया। दलित पाठकों ने भी प्रेमचन्द का आभार प्रकट किया कि उन्होंने दलित जीवन को कथा कहानियों का केन्द्रीय विषय ही नहीं बनाया अपितु एक दलित पात्र को महानायक बना दिया। यद्यपि एक दलित पात्र के महानायकत्व का यह सम्मोहन 'रंगभूमि' के अन्य दलित पाठों के आने से टूट गया। कृष्णदत्त पालीवाल ने भी इसका संकेत किया था– ''प्रेमचन्द ने सवर्ण जातियों के मस्तक को सूरदासों के चरणों में झुका दिया। आदर्शवाद के लिये तो ठीक है लेकिन यह भारतीय समाज का यथार्थ नहीं है। दलितों के कसकते दुखों अनुभवों की दवाई गाँधी के पास थी ही नहीं। इसलिए गाँधीवाद दलित आन्दोलन को दिशा दृष्टि न दे सका। आज भी इस आन्दोलन को अम्बेडकर, नारायण गुरू व महात्मा फुले से ही आशा रखनी चाहिए।''[11]

दलित पात्रों और उनके जीवन को केन्द्र में रखकर कथाएँ बुनने और दलित पात्रों को नायक पद प्रदान करने के लिए ही प्रेमचन्द का महिमामंडन नहीं हुआ अपितु द्विज पात्रों को खलनायक बनाने के लिए भी प्रेमचन्द को प्रशंसा मिली। यद्यपि उन्हें अपने जीवन काल में इसके लिए निन्दा भी झेलनी पड़ी थी उन्हें ब्राह्मण जाति के विरूद्ध, घृणा का प्रचारक सिद्ध किया गया। 'सद्‌गति' और 'मोटेराम शास्त्री' जैसी कहानियाँ लिखने के लिए प्रेमचन्द को ब्राह्मण समाज के कोप का सामना करना पड़ा। इस पर अफसोस जाहिर करते हुए अमृत राय ने लिखा–''बस एक बात बुरी थी–खामखाह इस चीज ने कुछ ब्राह्मण–अब्राह्मण झगड़े का रूप ही लिया था। उधर से गवाहों की जो सूची पेश हुई थी उस पर एक नजर डालने से यह बात साफ हो जाती है–जैसे सब लोग आ जुटे हों इस ब्राह्मण द्रोही का मन–मर्दन करने के लिए! यह बुरी चीज थी क्योंकि जाति–द्वेष फैलाने के लिए उन्होंने मोटेराम या दूसरे किसी चरित्र की सृष्टि नहीं की... अच्छे ब्राह्मण चरित्रों की भी उनके यहाँ कमी नहीं।''[12]

अमृतराय की इस सफाई का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अंतत: 'सद्‌गति' के संदर्भ में प्रेमचन्द को ब्राह्मण–द्रोही और घृणा का प्रचारक सिद्ध किया गया। 'सद्‌गति' के छपने पर ब्राह्मणों का एक समूह पुन: प्रेमचन्द के विरूद्ध लामबद्ध हो गया। ठाकुर श्रीनाथ सिंह एवं अन्य द्विज भी ब्राह्मणों के इस समूह के साथ मिलकर प्रेमचन्द के विरूद्ध मोर्चा सँभालने लगे। तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओं में प्रेमचन्द के

ब्राह्मण-द्रोह और घृणा के प्रचार पर लंबे समय तक बहसें चली। ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने इसी कहानी का हवाला देते हुए 'घृणा के प्रचारक प्रेमचंद' शीर्षक से लिखा- "इलाहाबाद जिले का गाँव-गाँव हमारा देखा है। हमने देहात में एक भी पंडित ऐसा नहीं देखा जो चमारों से इतनी घृणा करता हो और एक भी पंडिताइन ऐसी नहीं देखी जो इस प्रकार पत्थर हृदय हो। खेद है प्रेमचंद जी जैसे आदर्शवादी और राष्ट्रीयता का दंभ करने वाले लेखक ने भारत के ग्राम्य जीवन का ऐसा भद्दा चित्र उपस्थित किया, जो किपलिंग के सिवा और किसी ने भी नहीं किया। प्रेमचंद जी इधर बहुत दिनों से शहरों में रह रहे हैं और उपन्यास और कहानियाँ लिखने के लिए विदेशी उपन्यासकारों की रचनाएँ बराबर पढ़ते रहे हैं। यही कारण है कि वे भारतीय संस्कृति से दिन पर दिन दूर होते जाते हैं।... मिस मेयो की निन्दा हम इसलिए करते हैं कि उसने अपनी 'मदर इंडिया' और बाद को 'देवताओं के गुलाम' नामक कहानी संग्रह में हिन्दुओं का बड़ा ही गन्दा चित्र अंकित किया है। वह एक विदेशी महिला है और उसका उद्देश्य राजनीतिक बताया जाता है। परन्तु प्रेमचन्द जी तो भारतीय हैं और इस प्रकार के अन्यायपूर्ण चित्रण का इनका उद्देश्य क्या हो सकता है?"[13]

ऐसी कोई भी बात जिसमें द्विज समाज की विसंगतियों, रूढ़ियों, कुरीतियों अथवा शोषक प्रवृतियों की झलक मिलती है, उस सबको तत्कालीन द्विज समाज विदेशी शक्तियों की साजिश मानता था। अर्थात बाल विवाह, अनमेल विवाह, सती प्रथा, विधवाओं का पुनः विवाह वर्जित होना, लैंगिक भेदभाव अथवा वर्णव्यवस्था और जातिवाद आदि विषयों पर प्रश्न उठाने और आलेचना करने का अर्थ विदेशी शक्तियों की साजिश माना जाता था। अर्थात 'ब्राह्मणद्रोही' रचनाएँ लिखने के कारण प्रेमचन्द विदेशी शक्तियों के एजेंट सिद्ध होते हैं। तत्कालीन द्विज समाज प्रेमचन्द के विषय में ऐसा ही कुछ सोचता था, ऐसा ही कुछ मानता था। विदेशी शक्तियों का एजेंट होने के संदर्भ में तो प्रेमचन्द ने कोई सफाई नहीं दी लेकिन 'ब्राह्मणद्रोह' और 'घृणा का प्रचारक' होने के संदर्भ में प्रेमचन्द ने सफाई देते हुए 'जीवन में घृणा का स्थान' शीर्षक से हंस में एक लेख लिखा। 'ब्राह्मणद्रोह' के संदर्भ में प्रेमचन्द का स्पष्टीकरण कुछ इस प्रकार है-"इन पंक्तियों के लेखक ही के विषय में एक कृपालु आलोचक ने यह आक्षेप किया है कि उसने अपनी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा का प्रचार किया है। अव्वल तो किसी ब्राह्मण के हाथों कोई कष्ट नहीं पहुँचा और मान लो किसी ब्राह्मण ने उस पर डिग्री करके उसका घर नीलाम करा लिया हो, या उसे सरे बाजार गाली दे दी हो, तो इसलिए वह समस्त ब्राह्मण समुदाय का दुश्मन क्यों हो जाएगा? चोरी, बदमाशी, रिश्वत, दगा, झूठ इन सब दुर्गुणों का किसी विशेष समुदाय से संबंध नहीं। एक जमाना था जब अधिकतर कायस्थ

पटवारी और कानूनगो होते थे... लेकिन अब वह बात नहीं रही। इसलिए केवल कानूनगो और पटवारी कह देने से कायस्थ का बोध नहीं होता, न बनिया कह देने से किसी विशेष समुदाय का बोध होता है। केवल पंडित या पुजारी ही ऐसा शब्द है, जिससे दुर्भाग्यवश ब्राह्मण का बोध हो जाता है और यह कहना बड़ी दूर की कौड़ी लाना है कि जो इस पाखंडाचार के खिलाफ घृणा फैलाता है वह ब्राह्मण जाति का द्रोही है।... लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं है, एक महान पद है जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुँचता है। हरेक टेकपंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता।''[14]

अपने ऊपर लगे आरोपों (ब्राह्मणद्रोही और घृणा के प्रचारक होने के आरोपों) का प्रत्युत्तर देने अथवा स्पष्टीकरण देने का प्रेमचन्द को अधिकार था और उन्होंने अपने इस अधिकार का प्रयोग भी किया। लेकिन वह अपने बचाव में इतने रक्षात्मक होकर स्पष्टीकरण देने लगे कि दलित पाठकों और आलोचकों के मन में अपने प्रति संदेह का बीज बो दिया। प्रेमचन्द द्वारा बुरे ब्राह्मण और अच्छे ब्राह्मण के बीच अंतर करना तो ठीक था, यह लिखना भी ठीक था कि उन्होंने पंडे-पुजारियों के पाखंड पर जो चोट की है इसे ब्राह्मण जाति के विरूद्ध घृणा का प्रचार न माना जाए। दलित पाठक और दलित आलोचकों के मन में प्रेमचन्द के प्रति संदेह तब पैदा होता है, जब वह 'ब्राह्मण' को पद कहते हैं, और उसे जाति, वर्ण अथवा समुदाय से अलगाकर वर्णव्यवस्था के समर्थन की ओर बढ़ते हैं। पूना पैक्ट का विरोध करके प्रेमचन्द ने इस संदेह को और गहरा कर दिया। आज का दलित आलोचक प्रेमचन्द 'विशेषज्ञों से पूछ रहा है कि प्रेमचन्द के समाज में अथवा वर्तमान समाज में ब्राह्मण नाम की किसी जाति का अस्तित्व है या नहीं? यदि हाँ, तो क्या प्रेमचन्द के लिख देने मात्र से ही 'ब्रह्मण' कोई जाति अथवा वर्ण न होकर 'महान पद' हो जाएगा? यदि प्रेमचन्द की बात मान भी ली जाए तो प्रश्न यह है कि 'ब्राह्मण के तथाकथित महान पद के लिए अपेक्षित शर्तों और गुणों को पूरा करने वाले कितने दलितों को समाज ने ब्राह्मण के रूप में स्वीकार किया? गाँधी, प्रेमचन्द अथवा वर्णव्यवस्था के अन्य समर्थक जो कि वर्ण व्यवस्था के कर्म आधारित होने का दावा करते हैं, वे ऐसे उदाहरण नहीं बता पाते जिनसे यह सिद्ध हो सके कि किसी अन्य वर्ण और जाति में जन्म लेने वाले व्यक्ति को उसके कर्म के आधार पर ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय माना गया हो। कबीर को ब्राह्मण स्वीकार भी किया गया तो उनके जन्म की कहानी में यह जोड़ दिया गया कि उनका जन्म एक ब्राह्मण के आशीर्वाद से एक ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। कर्ण को क्षत्रिय तब स्वीकार किया गया जब यह निश्चित हो गया कि उसे एक क्षत्राणी ने जन्म दिया है। यदि वर्णव्यवस्था वास्तव में कर्म आधारित है तो डॉ. अम्बेडकर में ब्राह्मणत्व के वे सभी गुण हैं जो प्रेमचन्द और गाँधी ने गिनाए

हैं। लेकिन बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात भी वह दलित ही माने गए। गाँधी राष्ट्रपिता मान लिये जाने बाद भी जाति से बनिया ही रह गये और स्वयं प्रेमचन्द भी कायस्थ बने रहने को अभिशप्त थे। संभवत: प्रेमचन्द को यह अच्छी तरह पता था कि यह समाज किसी को उसके कर्म और ज्ञान के आधार पर ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय स्वीकार नहीं करता। प्रश्न यह हैं कि प्रेमचन्द फिर क्यों दावा कर रहे थे कि ब्राह्मण कर्म से होता है जन्म से नहीं! यदि प्रेमचन्द को अपने दावे में जरा भी, विश्वास होता तो वह स्वयं ब्राह्मण होने की दावेदारी पेश करते, उन्होंने अध्यापन कर्म भी तो किया था।

अब भी यह प्रश्न अनुत्तरित है कि प्रेमचन्द ने 'ब्राह्मण' को जाति अथवा वर्ण न मानकर 'महान पद' क्यों माना? ब्राह्मणवादियों के हमले से बचने मात्र के लिए? इस प्रश्न का उत्तर कुछ भी आये लेकिन यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने अपने जीवन काल में जिन रचनाओं के लिए 'ब्राह्मण द्रोही' और 'घृणा का प्रचारक' होने के आरोप झेले, मानहानि के मुकदमों का सामना किया और निन्दा झेली, उन्हीं रचनाओं के लिए आगे चलकर उन्हें प्रशंसा मिली, वह ब्राह्मणद्रोही के स्थान पर दलितों के मसीहा कहलाए।

नामवर सिंह ने प्रेमचन्द की उन रचनाओं के श्रेष्ठ माना है, जिनमें ब्राह्मण खल पात्र हैं। प्रेमचन्द को दलितों का मसीहा सिद्ध करते समय मैनेजर पांडेय ने यह भी बताया है कि 'ठाकुर का कुआँ' प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानी है– ''उस उपन्यास (रंगभूमि) में प्रेमचन्द ने भारतीय साहित्य की युगों से चलती आ रही संस्कृति को बदला। मेरा मतलब, उससे पहले साहित्य कृति का नायक किसी दलित को बनाया गया हो तो मुझे बतायें। शायद ही कोई ऐसी कृति मिले जिसमें दलित को नायक बनाया गया हो। उन्होंने दो काम एक साथ किये, जो समाज में पहले से हाशिये पर, बेजुबान, उपेक्षित और अपमानित रूप में रहते थे, उसके एक व्यक्ति को नायक बनाया। जो ठाकुर पहले नायक बनकर घूमा करते थे, उन सबको प्रेमचन्द ने खलनायक बना दिया। प्रेमचन्द जीवन भर दलितों की शोषण से मुक्ति के लिए लिखते रहे मैं तो यह भी कहता हूँ कि 'ठाकुर का कुआँ' जैसी कहानी पूरे दलित साहित्य में नहीं लिखी गयी।''[15]

नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय की आलोचना दृष्टि में उतना अंतर जरूर है, जितना उनकी जातियों में। अन्यथा ऐसा क्यों है कि नामवर सिंह को प्रेमचन्द की वे रचनाएँ अधिक पसंद हैं, जिनमें ब्राह्मण को खलनायक बनाया जाता है और मैनेजर पाण्डे यह बताना नहीं भूलते कि जो ठाकुर पहले नायक बनकर घूमा करते थे, उन सबको प्रेमचन्द ने खलनायक बना दिया है। हालांकि वास्तव में प्रेमचन्द ने सभी ठाकुर जमीदारों को खलनायक नहीं बनाया था। डॉ. धर्मवीर तो प्रेमचन्द से इस बात के लिए नाराज भी हुए हैं कि उन्होंने 'कफन' कहानी के जमींदार को दयालु क्यों

कहा है? नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि के जातिवादी पहलू को रेखांकित करते हुए ईश गंगानिया लिखते हैं –''यानी प्रो. नामवर सिंह स्वयं ब्राह्मणों के बीच अछूत जैसे रहे। प्रो. नामवर की भी विपरीत एवं स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह है... जो कि 'कबीर के आलोचक' और डॉ. धर्मवीर के संदर्भ में है **'मैं धर्मवीर की आलोचना कर ब्राह्मणों को सुख नहीं पहुँचाना चाहता।'** यह प्रतिक्रिया ब्राह्मण विरोधी है, नामवर ब्राह्मणों की पीड़ा से स्वयं को सुखी महसूस करते हैं क्योंकि डॉ. धर्मवीर ब्राह्मणों को कबीर के मुद्दे पर नाकों चनें चबबा रहे थे। लेकिन इसका यह अर्थ कतई नहीं निकाला जाना चाहिए कि नामवर का डॉ. धर्मवीर द्वारा ब्राह्मणों की आलोचना से सुखी होना दलितों का हितैषी होना हो गया। दलित-हितैषी होना और ब्राह्मणों के दुख में प्रसन्नता का अनुभव होना दोनों बिल्कुल अलग बातें है।''[16]

एक समय तक दलित आलोचना हिन्दी साहित्य को ही जातिवादी साहित्य और दलितों के प्रति घृणा का साहित्य समझती थी लेकिन अब यह स्पष्ट हो चुका है कि हिन्दी साहित्य ही नहीं बल्कि हिन्दी आलोचना की दृष्टि भी जातिवादी है। यह भी कितना दिलचस्प है कि कुछ जातिवादी हिन्दी आलोचक दलित साहित्यकारों को एकता और राष्ट्र की अखण्डता का पाठ पढ़ाने का दुस्साहस करते हैं। यह और भी दिलचस्प है कि दलित साहित्यकारों द्वारा लिखित दलित साहित्य को नकारने वाले आलोचकों को प्रेमचन्द के साहित्य का दलित पाठ स्वीकार है। नामवर सिंह ने प्रेमचंद की रचनाओं का दलित पाठ कुछ इस अंदाज में प्रस्तुत किया है– "प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों में हिन्दू समाज में बहुमूल जाति-पाँति के भेद पर चोट करते हुए विशेष रूप से अछूतों पर होने वाले अत्याचार की मार्मिक कहानियाँ भी लिखी हैं। प्रसंगवश यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि आज भी इस विषय (दलित विमर्श) पर यदि जनता के बीच हम किसी साहित्य को लेकर जाना चाहें तो हमें प्रेमचन्द की सहायता लेनी पड़ेगी।''[17]

यहाँ दलितों द्वारा लिखे गये दलित साहित्य और दलित समाज को प्रेमचन्द के चश्मे से देखने का आग्रह किया जा रहा है। 1936 तक के तथाकथित अछूत समाज को जानने-समझने के लिए प्रेमचन्द की दलित-विषयक रचनाओं की सहायता ली जा सकती है लेकिन आज के दलित समाज और उसकी समस्याओं के मामले में भी प्रेमचन्द का 'मंत्र' जपना गैरदलित आलोचकों की हठधर्मिता है। गैर दलित आलोचकों के इस हठ ने दलित साहित्य और विमर्श में स्वानुभूतिजन्य दलित साहित्य और सहानुभूतिजन्य दलित साहित्य के झगड़े को बढ़ाया। सहानुभूति और स्वानुभूति की इस बहस ने दलित लेखकों और आलोचकों को प्रेमचन्द के पुनर्पाठ के लिए प्रेरित किया। इस पुनर्पाठ से 'रंगभूमि' का एक और दलित पाठ सामने आया। यह दलित पाठ केवल रंगभूमि तक सीमित नहीं रहा अपितु अन्य गैरदलित लेखकों के दलित-विषयक लेखन का भी पुनर्पाठ हुआ।

रंगभूमि : दलित पाठ-2

गैरदलित आलोचकों ने एक तरफ तो दलितों द्वारा लिखे गये दलित साहित्य को नकारा लेकिन दूसरी तरफ उन्होंने प्रेमचन्द की रचनाओं के मसीहाई दलित पाठ को स्वीकारते हुए प्रेमचन्द को दलितों का मसीहा घोषित कर दिया। अजय तिवारी ने दलितों द्वारा लिखे गये दलित-साहित्य को नकारते हुए और दलित साहित्य की अवधारणा को अस्तित्ववादी विचारधारा की जूठन बताते हुए लिखा-"स्वानुभूति पर बल मूलतः अस्तित्ववादी धारणा है और अस्तित्ववादी पूँजीवादी विचारधारा है। स्वानुभूति वाला तर्क नयी कविता का तर्क है-अनुभूति की प्रमाणिकता यही तर्क दलित लेखकों का है, क्योंकि हम दलित हैं, इसलिए उसका प्रामाणिक अनुभव हमें है, उस पर सच्ची प्रतिक्रिया हम ही व्यक्त कर सकते हैं और शायद इसी कारण साहित्य की नहीं दलित साहित्य की बात की जाती है। उसे आप दलित अभिव्यक्ति कहें, दलित साहित्य कहने पर जोर क्यों है चूँकि उसमें दलित के साथ साहित्य भी है, इसलिए जिस अंश में वह साहित्य है उस अंश में उसे साहित्य की सामान्य कसौटी पर ही परखा जाएगा। क्योंकि उसका विषय दलित जीवन से संबंधित है, इसलिए वह दलित साहित्य है, पर है साहित्य ही... अच्छा साहित्य केवल अपने अनुभव पर नहीं लिखा जा सकता।''[18]

अधिकांश गैरदलित आलोचकों ने अंततः साहित्य का 'दलितपाठ' तो स्वीकार कर लिया लेकिन वे दलित साहित्यकारों को स्वीकार नहीं कर पाये। किसी दलित का लेखक होना उनके लिए किसी अजूबे से कम नहीं था। कुछ गैरदलित आलोचकों ने तो यहाँ तक कह दिया कि दलितों को सरकारी नौकरियों में आरक्षण मिल गया है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें साहित्य में भी आरक्षण दे दिया जाये। दलित लेखकों, आलोचकों और बुद्धिजीवियों को नकारने और दलित प्रश्नों को प्रेमचन्द और गाँधी के चश्मे से देखने की गैरदलित बुद्धिजीवियों की जिद ने दलित लेखक-आलोचकों को इतना सतर्क (चौकन्ना) कर दिया कि अब वे प्रेमचन्द के साहित्य के मासूम पाठक भर नहीं रह गये थे, उनका यह मासूम विश्वास भी टूट गया कि प्रेमचन्द दलितों के मसीहा हैं। 'प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य में पहली बार किसी दलित को नायक-महानायक बनाया।' इस तरह की बातें भी अब दलित पाठकों को पहले की तरह सम्मोहित नहीं कर पातीं।

'रंगभूमि', 'गोदान', और 'कफन' प्रेमचन्द की ऐसी रचनाएँ हैं, जो एक क्षण तो सम्मोहन पैदा करती हैं लेकिन उनका यह सम्मोहन ज्यादा देर ठहर नहीं पाता। यहाँ केवल दलित पाठक का सम्मोहन ही नहीं टूटता अपितु रचना के भीतर उपस्थित पात्रों और स्वयं लेखक का सम्मोहन भी टूटता है। यद्यपि 'रंगभूमि' के

सूरदास की मृत्यु के पश्चात भी लेखक का आदर्श स्वप्न बना रहता है लेकिन 'गोदान' के होरी की मरजाद का सम्मोहन टूट जाने के साथ स्वयं लेखक का आदर्श स्वप्न भी टूट जाता है। 'गोदान' में दलितों का प्रतिरोध (सिलिया और मातादीन के प्रसंग में चमारों का प्रतिरोध) दलित पाठकों को सम्मोहित करता है लेकिन उपन्यास के अंत तक आते-आते उनका यह सम्मोहन टूट जाता है। 'कफन' के घीसू-माधव पर तो किसी भी सम्मोहन का असर ही नहीं है। घीसू-माधव के चरित्र-चित्रण से दलित पाठकों को ऐसा धक्का लगता है कि फिर प्रेमचन्द का कोई सम्मोहन कोई 'मंत्र' उन पर असर नहीं करता। ऐसा लगता है कि घीसू-माधव ने सबकी नींद खोल दी। नींद खुलते ही सभी पाठक और आलोचक तरह-तरह के सवाल पूछने लगे, टिप्पणी करने लगे। चारों तरफ से इतनी टिप्पणियाँ और सवाल आए कि सब कुछ एक शोर में परिवर्तित हो गया। किसी ने किसी को नहीं सुना। चूँकि इस शोर में 'रंगभूमि' से जुड़े हुए प्रश्न भी शामिल हो चुके थे अत: शोर का स्वर और ऊँचा हो गया। इस शोर में प्रश्नों को भी सुना जा सके इस गरज (उद्‌देश्य) से ज्ञापन तैयार किये गये, चिट्ठियाँ लिखी गईं। प्रेमचन्द की दलित विषयक विवादास्यद रचनाओं को विभिन्न पाठ्यक्रमों से हटवाने के लिए भी ज्ञापन दिया गया। फिर भी प्रश्नों को नहीं सुना जा सका तो भारतीय दलित साहित्य अकादमी के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर के नेतृत्व में कुछ दलित पाठक, आलोचक और कार्यकर्ता न्यायालय के दरवाजे पर पहुँच गये। न्यायालय के हस्तक्षेप से पहले ही 31 जुलाई, 2004 को 'रंगभूमि दहन' हो गया। कुछ-एक लेखक आलोचक 'रंगभूमि दहन' की आग बुझाने के लिए आगे बढ़े लेकिन अधिकांश तो इस आग में हाथ सेंकने को तत्पर दिखे। हाथ सेकने के मामले में पत्रकारों की बिरादरी लेखकों की बिरादरी से बाजी मार ले गई। साहित्य की दुनिया से बाहर आकर 'रंगभूमि एक अखिल भारतीय रंगमंच में परिवर्ति हो गई। अखबारों और टी.वी. की खबरों में रंगभूमि के इस रंगमंच का पर्दा दो-तीन दिन की भीतर गिर ही जाना था, सो गिर गया।

अब रंगभूमि दहन की आँच साहित्यिक दुनिया तक सिमट गई थी। दलित-गैरदलित लेखक-आलोचक एक दूसरे पर रंगभूमि दहन के अंगारे फेंक रहे थे। रंगभूमि दहन को गैरदलित आलोचक दलितों की बर्बरता कहकर अपना आक्रोश प्रकट कर रहे थे जबकि दलित लेखक-आलोचक यह बता रहे थे कि रंगभूमि दहन क्यों जरूरी था। उनके अनुसार रंगभूमि दहन किसी साहित्यिक कृति का दहन नहीं था बल्कि दलितों के विरूद्ध प्रचारित घृणा का दहन था। यद्यपि कुछ दलित लेखक-आलोचक ऐसे भी थे, जो रंगभूमि दहन को उचित नहीं मानते थे। रंगभूमि दहन के विरूद्ध ऐसे गैरदलित कलमकार भी बोले, जो किसी दलित की झोपड़ी दहन अथवा दलित-बस्तियों के दहन पर कभी कुछ न बोलते थे। रंगभूमि

दहन पर उत्तेजित होने वाले इन दलित गैरदलित लेखक आलोचकों में एक ऐसा दलित आलोचक भी था, जिसे रंगभूमि दहन की लपटों में 'नीली आँखे' दिखने लगी। इसने चीख-चीख कर सबको बताया कि ये प्रेमचन्द की नीली आँखें हैं। उसे नीली आँखों पर कुछ फिल्मी गीत भी याद आये-"ये झील सी गहरी नीली आँखें कोई राज है इनमें गहरा"। "दे गई धोखा हमें ये नीली-नीली आँखें"। उसने यह भी स्पष्ट किया कि हमें धोखा देने वाली ये रहस्यमयी नीली आँखें 'प्रेमचन्द' सामन्त का मुन्शी की आँखें हैं। दलित पाठक एक बारगी प्रेमचन्द को सामन्त का मुन्शी मान भी लेते लेकिन उन्हें डॉ. धर्मवीर का स्त्री विरोधी पाठ कतई स्वीकार नहीं हुआ। गैरदलित आलोचकों ने डॉ. धर्मवीर के स्त्री विरोधी पाठ का विरोध कुछ इस अंदाज में किया कि अधिकांश दलित-गैरदलित डॉ. धर्मवीर को सबक सिखाने के लिए आ जुटे। प्रेमचंद के संदर्भ में उठे दलित विषयक प्रश्नों और रंगभूमि दहन के मामले को धर्मवीर विरोधी मुहिम ने पीछे धकेल दिया। लेकिन इस बीच रंगभूमि के कई दलित पाठ आ चुके थे। गैरदलित आलोचकों ने धर्मवीर विरोधी मुहिम का सहारा लेकर रंगभूमि के विभिन्न दलित पाठों को एक-दूसरे के विरूद्ध खड़ा कर दिया था। अब रंगभूमि दहन की राख भी ठंडी होकर उड़ चुकी है और डॉ. धर्मवीर भी इस दुनिया से जा चुके हैं। आलोचकों ने डॉ. धर्मवीर पर चुप्पी साध ली है। न कोई विरोध, न कोई समर्थन, केवल उपेक्षा। अब किसी को प्रेमचन्द पर बात करनी भी होती है तो डॉ. धर्मवीर से बचाकर की जाती है।

'रंगभूमि' का पुनर्पाठ करते हुए अब रंगभूमि के दलित पाठों का भी पुनर्पाठ करने की आवश्यकता है क्योंकि अब धर्मवीर विरोधी मुहिम ठंडी पड़ चुकी है। अत: रंगभूमि के विभिन्न दलित पाठों को एक दूसरे के विरूद्ध खड़ा करने के बजाय उनके आपसी संबंधों और प्रेमचन्द के साथ उनके संबंधों को समझने का अवसर है। जब हम इस दिशा में आगे बढ़ते हैं तो सबसे पहले जो बात सामने आती है, वह यह है कि गैरदलित आलोचकों द्वारा किये गये रंगभूमि के आरंभिक दलित पाठ (मसीहाई दलित पाठ) को दलित आलोचना द्वारा नकार दिया गया है।

प्रेमचन्द के मसीहाई दलित पाठ को नकारने के क्रम जो दलित पाठ सामने आया उसके केन्द्र में दलित पाठकों-आलोचकों की प्रेमचन्द के प्रति कुछ आशंकाएँ और प्रश्न थे। ये वही आशंकाएँ और प्रश्न थे, जिन्हें गैरदलित आलोचकों की हठधर्मिता ने पुष्ट किया और जिनका संबंध सहानुभूति बनाम स्वानुभूति की बहस से था।

प्रेमचन्द ने अपनी कई दलित विषयक कहानियों में पात्रों की जाति का उल्लेख नहीं किया है, पाठकों को अनुमान लगाना पड़ता है कि अमुक पात्र की अमुक जाति होगी। प्रश्न यह है कि 'कफन' कहानी के घीसू-माधव की 'जात' का बखान

करना प्रेमचन्द को जरूरी क्यों लगा? यहाँ प्रेमचन्द का उद्देश्य घीसू-माधव सरीखे चरित्रों का परिचय कराना था या उनकी 'जात' का परिचय कराना? प्रेमचन्द ने घीसू-माधव की जाति का उल्लेख करके उनके चरित्र को एक जाति विशेष तक सीमित क्यों किया? घीसू-माधव की जाति ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय होती तो घीसू-माधव का चरित्र-चित्रण कैसा होता? उस पर हिन्दी आलोचकों की प्रतिक्रिया कैसी होती?

वास्तव में घीसू-माधव के माध्यम से जो बात प्रेमचन्द कहना चाहते थे, वह बात कांतिमोहन ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द और अछूत समस्या' में कह दी है-''असलियत यह है कि प्रेमचन्द इस कहानी में 1936 के भारत की नई सच्चाई पेश करना चाहते हैं। घीसू और माधव अपने पूर्वज खेत-मजदूरों से गुणात्मक रूप से भिन्न हैं। वे ग्रामीण सर्वहारा के उस तबके के प्रतिनिधि हैं जिसे लुंपन सर्वहारा कहा जाता है और जो भारत पर 1929 की भीषण विश्व मंदी के प्रभाव के फलस्वरूप हमारे देश में जन्म ले रहा था। यह तबका भारतीय ग्रामों की विशिष्ट परिस्थितियों की ही उपज था और अपनी आदत के मुताबिक प्रेमचंद इस कहानी में इसका स्पष्ट संकेत भी देते हैं... खुद मेहनत न करना और किसानों की कमजोरियों का फायदा उठाना ग्रामीण लुंपन सर्वहारा की ये दो विशेषताएँ घीसू और माधव में भरपूर मात्रा में हैं और उनके इस चरित्र को समझने की कुंजी है।''[19] धन्य हैं प्रेमचन्द के संकेत और कांतिमोहन की कुंजी, जो घीसू-माधव के चरित्रों का ताला खोलकर उनके भीतर के 'लुंपन' को एक्सपोज़ करते हैं। लेकिन उन्हें शायद कोई ऐसी कुंजी नहीं मिली जो 'गोदान' के 'मातादीन' के लुंपनिज्म को एक्सपोज कर सके, उस पर तो अंत में स्वयं प्रेमचन्द भी आदर्शवाद की चादर डाल देते हैं। घीसू-माधव के चरित्र को किसी आदर्शवादी चादर से ढँकने की जरूरत नहीं है।

दिलचस्प बात यह है कि स्वयं कांतिमोहन ने प्रेमचन्द की ऐसी कहानियों का विवरण तैयार किया है, जिनमें प्रेमचन्द ने पात्रों की जाति नहीं बताई। इस आधार पर उन्होंने प्रेमचन्द को जातिनिरपेक्ष और धर्मनिरपेक्ष भी घोषित कर दिया है। लेकिन इसी आधार पर दलित पाठक और आलोचक पूछ रहे हैं कि घीसू-माधव की जात बताना क्यों जरूरी था? 'रंगभूमि' के नायक सूरदास की जाति का उल्लेख बार-बार और अपमानजनक ढंग से करना क्यों जरूरी हुआ? नायक सूरदास की जाति के अन्य पात्रों को व्यक्तिगत पहचान देने अथवा उन्हें नाम देने की जरूरत क्यों नहीं समझी? ''एक चमार ने कहा'' जैसे वाक्यों को प्रयोग करके ही काम क्यों चलाया गया? प्रेमचन्द ने नायक सूरदास के संदर्भ में टिप्पणी की है-''भारतवर्ष में अंधे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत होती है, न काम की। सूरदास उनका बना-बनाया नाम है और भीख माँगना बना-बनाया काम है। उनके गुण भी जगत

प्रसिद्ध हैं।''[20] नायक सूरदास की जाति के संदर्भ में भी प्रेमचन्द की राय शायद यही है कि 'चमारों को न नाम की जरूरत होती है, न काम की। उन्हें चमार कहने से काम चल जाता है और उनका बना-बनाया काम है-मरे हुए पशुओं को उठाना, उनकी खाल खींचना और चमड़े का काम करना या फिर जूते गाँठना। यहाँ प्रेमचन्द के पक्ष में यह तर्क दिया जा सकता है कि दृष्टिबाधितों के संदर्भ में प्रेमचन्द की टिप्पणी अभिधात्मक न होकर व्यंग्यात्मक है, उन्होंने दृष्टिबाधितों के प्रति भारतवासियों की मानसिकता पर व्यंग्य किया है। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रेमचन्द की इस टिप्पणी में व्यंग्य न होकर भाषा का कौतुक है, ऐसा लगता है कि सूरदास का परिचय देने में प्रेमचन्द ने वैसी ही चुहलबाजी की है जैसे कि बस्ती के बच्चे सूरदास से करते हैं, कोई उसे चिढ़ाता है, कोई उसकी लाठी छीनकर भाग जाता है तो कोई उसे गड्डे में गिरा देता है। सूरदास के साथ ऐसा करने में बच्चों को विशेष आनन्द आता है, उन्हें सूरदास के कष्ट की कोई परवाह नहीं। इसी प्रकार प्रेमचन्द को दृष्टिबाधितों की समस्याओं से कोई सरोकार नहीं। पूरे उपन्यास में ऐसा कोई प्रकरण अथवा संदर्भ आता ही नहीं, जिससे यह पता चल सके कि प्रेमचन्द दृष्टिबाधितों के प्रति संवेदनशील हैं अथवा अपने पाठकों को उनके प्रति सेन्सेटाइज करते हैं। बस्ती के बच्चों द्वारा सूरदास को तंग करने की घटना की गंभीरता भी अंततः हास-परिहास में उड़ जाती है।

प्रेमचन्द को दृष्टिबाधितों के प्रति संवेदनशील सिद्ध करने के प्रयास में 'बूढ़ी काकी' का उल्लेख करने का भी कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि 'बूढ़ी काकी' एक बूढ़ी स्त्री की दुर्दशा की कहानी है न कि एक दृष्टिबाधित स्त्री की। 'बूढ़ी काकी' की बेचारगी से पाठकों पर पड़ने वाले प्रभाव को गहरा करने और उसके प्रति पाठकों की सहानुभूति अर्जित करने के लिए बूढ़ी काकी को दृष्टिबाधित भी दिखा दिया गया है। दृष्टिबाधितों की समस्या उठाना प्रेमचन्द का उद्देश्य नहीं। बूढ़ी काकी का परिचय प्रेमचन्द ने इन शब्दों में दिया है-''बूढ़ी काकी में जिह्वा स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा शेष न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही। समस्त इन्द्रियाँ नेत्र हाथ और पैर जवाब दे चुके थे। पृथ्वी पर पड़ी रहती और घरवाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, भोजन का समय टल जाता था अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और न मिलती तो रोने लगती थीं उनका रोना-सिसकना साधारण रोना न था, वे गला फाड़-फाड़ कर रोती थीं।''[21] बूढ़ी काकी के गला फाड़कर रोने से कहानी के संवेदनहीन पात्रों अथवा पाठकों का मन पसीजेगा अथवा नहीं, इस बात को लेकर प्रेमचन्द आशंकित थे। अतः प्रेमचन्द ने बूढ़ी काकी के प्रति सहानुभूति अर्जित करने के लिये बूढ़ी काकी को दृष्टिबाधित ही नहीं दिखाया अपितु उनकी समस्त इन्द्रियों को छीजते हुए

दिखाया है। बूढ़ी काकी की इतनी लाचारी पर भी कहानी के स्टीरियोटाइप पात्रों (संवेदनहीन समाज) का मन नहीं पसीजता तो प्रेमचन्द अपना अंतिम अस्त्र चलाते हैं। वह कहानी की संवेदनहीन पात्र रूपा के मन में एक ब्राह्मणी (बूढ़ी काकी) के श्राप का भय उत्पन्न करते हैं–''ठीक उसी समय रूपा की आँखें खुलीं। उसे मालूम हुआ कि लाडली मेरे पास नहीं है। उसे वहाँ न पाकर वह उठी तो क्या देखती है कि लाडली जूठे पत्तलों के पास चुपचाप खड़ी है और बूढ़ी काकी पत्तलों पर से पूड़ियों के टुकड़े उठा-उठा कर खा रही है। रूपा का हृदय सन्न रह गया। किसी गाय की गर्दन पर छुरी चलते देखकर जो अवस्था उसकी होती, वही उस समय हुई। एक ब्राह्मणी दूसरों की जूठी पत्तल टटोले, इससे अधिक शोकमय दृश्य असंभव था। पूड़ियों के कुछ ग्रासों के लिए उसकी चचेरी सास ऐसी पतित और निकृष्ट कर्म कर रही है। इस अधर्म के पाप का भागी कौन है? उसने सच्चे हृदय से गगन-मंडल की ओर हाथ उठाकर कहा, परमात्मा मेरे बच्चों पर दया करो। इस अधर्म का दंड मुझे मत दो, नहीं तो मेरा सत्यानाश हो जाएगा।''[22]

एक ब्राह्मणी वृद्धा के श्राप और ईश्वर की तथाकथित दंडव्यवस्था के भय से कहानी की संवेदनहीन पात्र का हृदय परिवर्तन हो जाता है लेकिन दृष्टिबाधितों और दलितों के प्रति स्वयं प्रेमचन्द का दृष्टि परिवर्तन नहीं होता है। यही कारण है कि 'सूरदास' रंगभूमि का नायक महानायक होकर भी 'चमार' और 'दृष्टिबाधित' होने का अभिशाप झेलने को बाध्य है, यह अलग बात है कि उसे इस पीड़ा का दंश महसूस नहीं होता क्योंकि वह साम्राज्य विरोधी ताकतों को पराजित करने, अपनी जमीन बचाने और बस्ती बचाने, देश को स्वतंत्र कराने की धुन में वह हर दंश को भूल जाता है। लगता है कि वह मान-अपमान के बोध से ऊपर उठ गया है, अन्यथा जब भी जिसको अवसर मिलता है, वह उसे उसकी जाति और दृष्टिबाधित होने के कारण अपमानित करता है। स्वयं प्रेमचन्द ने भी ऐसा किया है। उपन्यास के पात्र ही सूरदास को जातीय आधार पर नीचा नहीं दिखाते, अपमानजनक और घृणास्पद मुहावरों और भाषा का प्रयोग नहीं करते अपितु स्वयं प्रेमचन्द ने भी ऐसे भाषा-मुहावरों का प्रयोग धड़ल्ले से और बिना आलोचकीय–लेखकीय दृष्टि के किया है। जैसे-'अंधों की आँखें न खुले, पर भाग खुल सकता है।' 'हम कोई धुनिये-जुलाहे हैं यों सबसे दबते फिरें?' 'दरोगाजी की गालियाँ खाते हैं तो क्या डोमड़ो की गालियाँ भी खायें?' 'जो घोड़ी पर कभी सवार ही नहीं हुआ, वह दूसरों को सवार होना क्या सिखायेगा?' 'वह क्या जाने औरत कैसे काबू में रहती है?' 'मुझे सबसे बड़ा मलाल तो यह है कि अभागिन गयी थी, तो चमार के साथ गयी। अगर किसी ऐसे आदमी के साथ जाती, जो जात-पात में, देखने-सुनने में, धन-दौलत में मुझसे बढ़कर होता, तो मुझे इतना रंज न होता। जो सुनेगा, अपने मन

में यही कहेगा कि मैं अंधे से भी गया-बीता हूँ।' 'अंधे भिखारी के लिए दरिद्रता इतनी लज्जा की बात नहीं है, जितना धन।' 'डोमड़ा, चमार जो गिरजा में जाकर खाना खा ले, वही किरस्तान हो जाता है, यही बाद में कोट-पतलून पहनकर साहब बन जाते हैं।' 'अंधे पेट के बड़े गहरे होते हैं, इन्हें बड़ी दूर की सूझती है।' भारतवर्ष में अंधे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत होती है, न काम की। सूरदास उनका बना-बनाया नाम है, और भीख माँगना बना-बनाया काम है।'

इस तरह की अपमानजनक एवं घृणास्पद भाषा और मुहावरों का रंगभूमि में धड़ल्ले से प्रयोग हुआ है। दलित पाठकों और आलोचकों ने ऐसे प्रयोगों की कड़ी निन्दा की और इस निन्दा की परिणति रंगभूमि-दहन में हुई। प्रेमचन्द की रचनाओं पर दलित पाठकों और आलोचकों द्वारा लगाये गये प्रश्नचिन्ह रंगभूमि दहन के पश्चात भी यथावत बने हुए हैं। दलितों और दृष्टिबाधितों को 'नाम' और 'काम' की जरूरत क्यों नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर न तो प्रेमचन्द के पास था और न प्रेमचन्द भक्तों के पास। दलित पाठकों और आलोचकों के अन्य प्रश्नों के भी संतोषजनक उत्तर नहीं मिल सके हैं। यद्यपि द्विज आलोचकों ने पहले तो दलित पाठकों-आलोचकों के प्रश्नों को अनसुना करके उन्हें हतोत्साहित करने का प्रयास किया। जब इग्नोरेंस की रणनीति काम न आई (प्रेमचन्द की रचनाओं पर दलित प्रश्नों की बौछार निरंतर बढ़ती गई।) तो अंतत: द्विज आलोचकों ने इन प्रश्नों पर बोलना शुरू किया लेकिन गैरजिम्मेदाराना ढंग से, उपेक्षा और तिरस्कार के भाव से। उन्होंने कहा-**प्रेमचन्द चमार को चमार नहीं लिखते तो क्या लिखते? उस समय तक दलित शब्द प्रचलन में नहीं था। जाति सूचक शब्दों के प्रयोग पर पाबंदी नहीं थी। चमार स्वयं के लिये चमार लिख सकता है तो प्रेमचन्द उसे चमार क्यों नहीं लिख सकते? चमार चूहड़े को चमार-चूहड़ा नहीं कहा जाये तो क्या कहा जाये? अंधे को अंधा नहीं कहा जाये तो क्या कहा जाये? प्रेमचन्द ने तो एक अंधे को सूरदास कहकर उसे सम्मान ही दिया है।** प्रेमचन्द ने एक अंधे चमार को महानायक और राष्ट्रनायक बनाया, इसके लिए दलितों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। प्रेमचन्द ने घीसू-माधव जैसे चमारों की हरामखोरी और पशुता की पोल खोली है तो भी दलित आलोचकों को इस पर रिएक्ट नहीं करना चाहिए उन्हें सच का सामना करना चाहिए। कांतिमोहन ने तो घीसू-माधव को चमारों के ऐतिहासिक सच के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द और अछूत समस्या' में किया।

प्रेमचन्द की रचनाओं के संदर्भ में दलित पाठकों के प्रश्नों और टिप्पणियों से बौखलाकर **द्विज आलोचकों द्वारा की गई ऐसी टिप्पणियाँ या तो क्रूरतापूर्ण है या फिर मूर्खतापूर्ण। कुछ द्विज आलोचकों को उनकी क्रूरता और मूर्खता का**

बोध कराने में दलित पाठक सफल रहे। यद्यपि कुछ द्विज आलोचक आज भी, अपनी क्रूरताओं और मूर्खताओं को दोहरा रहे हैं। संभवतः समय उन्हें इतिहास के कूड़ेदान में फेंक देगा, दलित विमर्श ने तो उन्हें लगभग फेंक ही दिया है। जब प्रेमचन्द को क्षमा नहीं किया गया तो उनकी क्या बिसात? दलित विमर्श और दलितों के लिए असली चुनौती तो वे द्विज आलोचक हैं, जो प्रगतिशीलता और लोकतांत्रिक मूल्यों की चादर ओढ़कर ही नहीं आते अपितु लोकतांत्रिक चरित्र की भाषा में भी पारंगत होते हैं और जमीनी प्रश्नों को दार्शनिक शब्दावली में भ्रमित करते हैं। कुछ द्विज आलोचक यह भली-भाँति समझ गये कि दलित, स्त्री, आदिवासी, एवं अन्य हाशियकृत समाजों (अस्मिताओं) की आवाज और उनके प्रश्नों को अब दबाया नहीं जा सकता बस उन्हें भ्रमित किया जा सकता है, आपस में उलझाया जा सकता है। अत: ऐसे आलोचकों ने दलित-विमर्श का प्रत्यक्ष विरोध करने के बजाय, उसे भ्रमित करने प्रयास किया। **कुछ द्विज आलोचक दलित प्रश्नों को भ्रमित करने में सफल भी रहे लेकिन उन प्रश्नों के उत्तर वे नहीं दे सके। कुछ दलित प्रश्नों के उत्तर किसी के पास नहीं हैं। इस प्रश्न का उत्तर भी किसी के पास नहीं है कि दृष्टिबाधितों और दलितों को नाम और काम की जरूरत क्यों नहीं है?** प्रेमचन्द ने ऐसी क्रूरतापूर्ण टिप्पणी के साथ रंगभूमि का आरंभ क्यों किया? रंगभूमि के नायक महानायक सूरदास की जाति के अन्य पात्रों को प्रेमचन्द ने नाम देने की जरूरत क्यों नहीं समझी? 'एक चमार ने कहा' जैसे वाक्यों का प्रयोग करके चलताऊ काम क्यों किया? प्रेमचन्द ने चामार जाति के पात्रों का चित्रण कुछ इस अंदाज में किया- ''एक दिन सुबह ताहिर अली नमाज अदा करके दफ्तर में आये, तो देखा कि एक चमार खड़ा रो रहा है। पूछा क्या बात हैं? बोला-क्या बताऊँ खाँ साहब, रात घरवाली गुजर गयी। अब उसका किरिया करम करना है, मेरा जो कुछ हिसाब हो दीजिए कफन के रूपये भी पास नहीं है।... इस चमार को कई खालों के दाम देने थे। कोई बहाना न कर सके। थोड़े से रूपये लाकर उसे दिये। चमार ने कहा- हजूर, इतने में तो कफन भी पूरा न होगा। मरनेवाली अब फिर तो आयेगी नहीं, उसका किरिया-करम तो दिल खोलकर कर दूँ। मेरे जितने रूपये आते हैं, सब दे दीजिए। यहाँ तो जब तक दस बोतल दारू न होगी, लास दरवज्जे से न उठेगी।''[23]

ध्यान रहे यह वही प्रेमचन्द हैं, जो अपने उपन्यासों में पात्रों का मेला सा लगा देते हैं और पात्रों के मेले में भी हर पात्र को विशेष पहचान देते हैं, प्रत्येक पात्र का परिचय बड़े विस्तार और मनोयोग से देते हैं, छोटी से छोटी भूमिका में आने वाले उनके पात्रों का चित्र भी पाठकों के मन में अंकित हो जाता है। जो प्रेमचन्द पात्रों के चरित्र-चित्रण के इतने माहिर चित्रकार हैं, वह रंगभूमि में एक जाति विशेष के पात्रों को नाम तक नहीं दे पाते। जबकि प्रेमचन्द इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि

उपन्यास में छोटे से छोटे पात्र का चरित्र चित्रण करके उसे औपन्यासिक पात्रता प्रदान करनी होती है। महाकाव्य, लोककथा और आख्यायिका की कथा परंपरा और उपन्यास की कथा परंपरा में अंतर है। **'एक समय की बात है, किसी देश में एक राजा राज्य करता था।' जैसे वाक्यों से उपन्यास में औपन्यासिक प्रभाव, नहीं आता।** ''समस्त कथ्यात्मक विधाएँ किसी न किसी रूप में कोई किस्सा कहानी सुनाते हैं लेकिन क्या उपन्यास सिर्फ कहानी सुनाने का माध्यम है? यदि ऐसा होता तो उपन्यास जैसे विशिष्ट फार्म को अन्वेषित करने की क्या आवश्यकता थी-मनुष्य की कहानी को अभिव्यक्त करने के लिए क्या पुरातन काल से चलती आयी कथ्यात्मक शैलियां काफी नहीं थीं? किस्सागो के सुरक्षित संसार में जो मनुष्य बसता था, उपन्यास का व्यक्ति उस संसार की हदों से कहीं दूर जा पड़ा था। पुरातन कथा शैलियों में हमें कितने पात्र याद रहते हैं? एक राजा था कहानी यहाँ से शुरू होती है। कौन सा राजा? यह अप्रासंगिक है क्योंकि राजा और रानी और राक्षस और पक्षी हमारे पुराने लैण्डस्केप की आर्कीटाइप स्मृतियों को उघाड़ते हैं-कहानी शुरू होते ही वे कठपुतलियों की तरह नाचने लगते हैं।[24]

प्रेमचन्द यह भली-भाँति समझते थे कि उपन्यास में किसी भी पात्र के विषय में यह नहीं लिखा जाता-'एक चमार था।' 'एक चमार ने कहा। क्योंकि चमार भी एक व्यक्ति होता है, उस व्यक्ति का नाम भी होता है, उसकी एकमात्र पहचान 'चमार' नहीं है, हर चमार का भी अपना एक व्यक्तित्व होता ही है। वह एक सामाजिक इकाई भी है लेकिन प्रेमचन्द ने इसे अपनी 'रंगभूमि' में एक ऐसी भीड़ में रिड्यूस कर दिया है, जिसकी उपयोगिता वहीं तक है, जहाँ तक वर्णव्यवस्था निर्धारित करती है। चमार जाति के पात्रों को व्यक्ति विशेष के रूप में प्रस्तुत करने के नाम पर प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य को घीसू, माधव और सूरदास ही दिये हैं। दलित पाठक और आलोचकों को न तो घीसू-माधव स्वीकार हैं और न ही सूरदास। उन्हें सूरदास क्यों स्वीकार नहीं है? इस प्रश्न के उत्तर में 'रंगभूमि' के कुछ दलित पाठ और सामने आए।

रंगभूमि : दलित पाठ-3

दलित पाठक और आलोचकों ने प्रेमचन्द के सूरदास को स्वीकार नहीं किया इसका एक सामान्य कारण तो यह है कि सूरदास का चरित्र-चित्रण अपमान जनक ढंग से हुआ है, उसकी जाति का उल्लेख भी बार-बार अपमानजनक ढंग से हुआ है। उसे भिखारी के रूप में प्रस्तुत किया गया। वह दस बीघे जमीन का मालिक होकर भी भिखारी है। जब सूरदास से भीख ही मँगवानी थी तो उसे दस बीघे जमीन का मालिक बनाने का चमत्कार क्यों किया गया ? जिस कालखण्ड में 'रंगभूमि' की

रचना हुई उस कालखण्ड में किसी दलित का दस बीघे जमीन का मालिक होना किसी चमत्कार से कम नहीं है। इससे भी बड़ा चमत्कार यह है कि यह दस बीघे जमीन सूरदास को न तो भीख में मिली, न उपहार में मिली है। यह जमीन सूरदास को विरासत में मिली है यह उसके पुरखों की जमीन है, जिनका सत्तर पीढ़ियों का इतिहास है। सूरदास को सत्तर पीढ़ियों के इतिहास की विरासत से जोड़कर प्रेमचन्द क्या सिद्ध करना चाहते थे, यह अभी तक एक अबूझ पहेली है। सूरदास को दस बीघे जमीन का मालिक और भिखारी एक साथ बनाकर प्रेमचन्द क्या यह सिद्ध करना चाहते थे कि चमार घीसू-माधव की तरह कामचोर और कफन-खाऊ होते हैं, वे दस बीघे जमीन के मालिक बनने पर भी भीख ही माँगेंगे। क्या प्रेमचन्द यह सिद्ध करना चाहते थे कि दृष्टिबाधितों को न नाम की जरूरत है न काम की। एक दृष्टिबाधित व्यक्ति दस बीघा जमीन का मालिक होकर भी भीख ही माँगेगा।

सूरज बड़त्या से लेकर डॉ. धर्मवीर तक लगभग सभी दलित आलोचकों ने सूरदास के पास दस बीघे जमीन होने के औचित्य पर प्रश्न उठाया है। सूरदास से भीख मँगवाने की प्रतिक्रिया में डॉ. धर्मवीर ने प्रेमचन्द और प्रेमचन्द भक्तों को खूब खरी खोटी सुनाई है-''ब्राह्मणों का भीख माँगना पेशा है जबकि चमारों में भीख माँगने को मनुष्यत्व की तौहीन माना गया है। यहीं प्रेमचन्द से गलती हुई है कि उन्होंने रंगभूमि में भीख माँगने वाले एक चमार को नायक बनाया है। चमारों में जार की तरह भीख माँगने वाला कोई व्यक्ति हो सकता है लेकिन वह नायक नहीं हो सकता। चमारों में नायक उसी को माना जाता है, जो स्वयं कमाकर खाता है। पुनः कहा जाए कि चमार अंधा हो सकता है, लेकिन भिखमंगा नहीं। चमारों के विक्लांग लोग भी कमा कर खाते हैं। अंधे चमार से प्रेमचंद द्वारा भीख मँगवानी चमारों की संस्कृति को न समझना है। किसी भी स्थिति में भीख माँगनी चमारों का आदर्श और यथार्थ नहीं है। इसके विपरित समाके होकर भी भीख माँगनी यह ब्राह्मणों की संस्कृति है।[25]

दलित आलोचकों का अगला प्रश्न यह है कि सूरदास की दस बीघे जमीन का क्या उपयोग है? यह जमीन सूरदास को भिखारी होने के अपमान से मुक्त नहीं करा पाती लेकिन साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन का प्रतीक कैसे बन जाती है? वास्तव में सूरदास की जमीन के दो भौतिक उपयोग हैं- एक तो यह कि यह जमीन सारी बस्ती के पशुओं के लिये चारागाह है, दूसरा यह कि बनारस आने वाले श्रद्धालुओं के लिए विश्रामस्थल है। ध्यान रहे ये श्रद्धालु पंडा 'नायकराम' के यजमान हैं और सूरदास की जमीन पर चरने वाले पशुओं में 'बजरंगी' के पशु है। जमीन के इन दोनों भौतिक उपयोगों में सूरदास का कोई प्रत्यक्ष भौतिक लाभ नहीं है फिर भी वह इस जमीन के लिए अपनी जान देने को भी तत्पर है। वह जॉन सेवक को अपनी जमीन

बेचने को भी तैयार नहीं होता जबकि जॉन सेवक उसे मुँहमाँगी कीमत देने को भी तैयार था। सूरदास अपनी जमीन क्यों नहीं बेचता? इसके दो कारण स्वयं लेखक प्रेमचन्द ने बताये हैं-एक तो यह कि यह जमीन सूरदास के पुरखों की निशानी है, दूसरा यह कि इस जमीन का उपयोग धर्म की सेवा में हो रहा है, सूरदास का परलोक सुधर रहा है। इस जमीन पर 'गऊमाता' चरती हैं और श्रद्धालु आकर टैंट लगाकर ठहरते हैं। सूरदास के जीवन की बस यही एक साध (इच्छा) है कि वह यहाँ एक धर्मशाला और प्याऊ बनवा सके तो उसके पुरखों का नाम अमर हो जाए और उसका परलोक सुधर जाये। अर्थात जमीन को बचाने की सूरदास की लड़ाई धर्मभीरूता और भावुकता से शुरू होती है। उसे तो यह भी नहीं पता कि वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में राष्ट्रनायक बनने जा रहा है।

यदि यह मान लिया जाये कि सूरदास को यह अच्छी तरह मालूम था कि वह राष्ट्रनायक गाँधी का प्रतिनिधित्व कर रहा है, वह कुशल राजनीतिज्ञ है। यदि यह माना जाये कि वह तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों से अच्छी तरह परिचित था, उसे साम्राज्यवादी ताकतों की पहचान थी, वह राष्ट्रवादी और साम्राज्यवादी ताकतों के बीच के अंतर को अच्छी तरह समझता था। तब तो उसे सामंतवादी ताकतों की पहचान भी होनी चाहिए, वर्णव्यवस्था में 'अछूतों' (दलितों) की स्थिति का पता होना चाहिए। औद्योगिक विकास का दलित-समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा था? यह भी उसे पता होगा ! निश्चित रूप से औद्योगिक विकास ने दलितों को सामंतवाद के पंजे से मुक्त होने का अवसर दिया। इससे दलित समाज का सशक्तिकरण भी हुआ। औद्योगिक विकास जाति व्यवस्था को तो अपदस्थ नहीं कर पाया लेकिन उसने वर्णव्यवस्था पर गहरी चोट की। किसान की 'मरजाद' का महिमामंडन करने वाले प्रेमचन्द ने यह भी स्वीकार किया है कि एक औद्योगिक मजदूर किसान की तुलना में थोड़ी अधिक सफलता से संघर्ष कर पा रहा था। किसान की गर्दन अंत तक सामंतवाद के फंदे में फँसी रही, जबकि औद्योगिक मजदूर सामंतवाद को मुँह चिढ़ाने लगा था। जमींदार, साहूकार, पंडे-पुरोहित और पुलिस प्रशासन सभी किसान का खून चूस रहे थे। अर्थात किसान का शोषण करने के मामले में सामंतवाद और साम्राज्यवाद में गहरी साँठ-गाँठ थी। 'गोदान' का 'होरी' अंत तक शोषण के इस चक्र से बाहर नहीं निकल पाता। जबकि 'गोबर' औद्योगिक मजदूर बनने के पश्चात् जमींदार, साहूकार और पंडे-पुरोहितों के पंजे की पहुँच से दूर निकल जाता है और जब वह गाँव आता है तो गाँव के छोटे-मोटे साहूकारों और पंडे पुरोहितों का मजाक उड़ाता है। वह होरी की तुलना में अधिक चेतनासंपन्न है और यह सब औद्योगिक विकास के कारण संभव हो पाया। औद्योगिक विकास सामंतवाद और ब्राह्मणवाद के लिए खतरा हो सकता था, लेकिन दलितों के लिए एक अवसर बनकर आया।

अब प्रश्न यह कि रंगभूमि के सूरदास को प्रेमचन्द ने औद्योगिक विकास के विरोध में क्यों खड़ा किया है? वह कौन सी सभ्यता-संस्कृति का रक्षक बनकर खड़ा है? क्या प्रेमचन्द ने उसे दस बीघे जमीन का मालिक बनाकर और जमीन को बचाने के संघर्ष में फँसाकर सामंतवादी और ब्राह्मणवादी संस्कृति का रक्षक बना दिया है? सामंतवाद और ब्राह्मणवाद की जिस जमीन को बचाने के लिए सूरदास अपनी जान देने को तत्पर है, उसका क्या कारण है? उसके दो-तीन कारण तो उपन्यास में ही गिनाए गये हैं-एक तो यह कि सामंतवाद और ब्राह्मणवाद की उस जमीन पर गऊमाता चरती हैं और यह जमीन बनारस आने वाले श्रद्धालुओं के लिए विश्राम स्थल है। एक कारण यह भी है कि उस जमीन पर कारखाना लगने से शहर की रौनक गाँव में आएगी। कारखाने में काम करने वाले मजदूर गाँव की बहू-बेटियों को घूरेंगे, उन्हें छेड़ेंगे। जुए के अड्डे खुल जाएँगे, शराब-ताड़ी की बहार आ जाएगी। कारखाने के साथ-साथ पुतलीघर भी बन जाएगा अर्थात युवक-युवतियाँ भ्रष्ट हो जाएँगे और उनका नैतिक पतन हो जाएगा। कुल मिलाकर सूरदास की यही चिन्ता है कि कारखाना खुल जाने से (औद्योगिक विकास) से गाँव की आदर्श व्यवस्था (ब्राह्मणवादी व्यवस्था)पर खतरा मँडराने लगेगा।

एक तरफ गाँधी और प्रेमचन्द हैं, जो औद्योगिक सभ्यता को भारतीय ग्रामीण व्यवस्था के लिए खतरा मानकर उसका विरोध करते हैं और दूसरी तरफ डॉ. अंबेडकर दलितों को गाँव छोड़कर शहर जाने की सलाह दे रहे थे। स्वयं प्रेमचन्द भी इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि भारतीय गाँव सामंतवाद और ब्राह्मणवाद के गढ़ हैं, जबकि औद्योगिक सभ्यता वर्णव्यवस्था पर गहरी चोट करती है और वर्णव्यवस्था के अनुसार निर्धारित पेशों की बाध्यता से मुक्त करती है। इसके बावजूद प्रेमचन्द सूरदास को औद्योगिक सभ्यता के विरूद्ध खड़ा करते हैं, इससे इसी बात की पुष्टि होती है कि प्रेमचन्द भी वर्णव्यवस्था के कट्टर समर्थक थे। **अधिकांश दलित पाठक और आलोचकों का यही मानना है कि वर्णव्यवस्था का कोई समर्थक दलितों का मसीहा नहीं हो सकता, प्रेमचन्द भी नहीं।**

औद्योगिक सभ्यता के विरोध में और अपनी जमीन को बचाने के संघर्ष में सूरदास के प्रमुख सैनिक 'बजरंगी' और 'पंडा नायकराम' बनते हैं क्योंकि इस जमीन से उनका प्रत्यक्ष स्वार्थ जुड़ा हुआ है। इस जमीन पर बजरंगी के पशु चरते हैं और पंडा नायकराम के यजमान श्रद्धालु आकर ठहरते हैं। लेकिन एक दिलचस्प तथ्य यह है कि जब बजरंगी और पंडा नायकराम को यह विश्वास दिलाया जाता है कि कारखाना खुलने में उनका भी हित है तो वे सूरदास का साथ छोड़कर कारखाना लगाये जाने के पक्ष में वकालत करने लगते हैं। बजरंगी को यह विश्वास हो जाता है

कि कारखाना लगने और मजदूरों की बस्ती बसने के बाद वह अपना दूध का कारोबार बढ़ा सकेगा, दूध को अधिक दामों पर बेच सकेगा और दूध की मिठाइयाँ बनाकर बेचकर बड़ा व्यवसायी बन जाएगा। पंडा नायकराम जब अपने यजमान राजा महेन्द्र कुमार को कारखाने के लिये उस जमीन को बेच देने के पक्ष में देखता है और अपने हितों की रक्षा के प्रति आश्वस्त हो जाता है तो वहीं पंडा नायकराम सूरदास पर जमीन बेच देने का दबाव बनाता है और बस्ती के घरों का मुआवजा तय कराने की प्रक्रिया में दलाली भी करता है। अर्थात 'जमीन' को बचाने के संघर्ष में बजरंगी और पंडा नायकराम को किसी सभ्यता-संस्कृति से कोई सरोकार नहीं है, उनका मुख्य लक्ष्य अपने स्वार्थों को साधना है। फिर सूरदास किसकी सभ्यता-संस्कृति को बचाने के लिए और किसके पक्ष में खड़ा है? **दरअसल प्रेमचन्द ने सामंतवादी और ब्राह्मणवादी संस्कृति को बचाने की जिम्मेदारी भी एक दलित को सौंपी है।** शायद प्रेमचन्द भी यह मानते थे कि एक दलित ही किसी भी संघर्ष में पूरी निष्ठा और ईमानदारी से डँटा रह सकता है, द्विजों पर भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि 'स्वार्थ-साधना' का ही दूसरा नाम द्विज-संस्कृति हैं। प्रेमचन्द ने 21 नवम्बर, 1932 के जागरण के संपादकीय में लिखा भी है- हमारी समझ में नहीं आता कि किस मुँह से यह दावा कर सकते हैं कि हम पवित्र और अमुक अपवित्र है। **किसी ब्राह्मण महाजन के पास उसी का भाई ब्राह्मण आसामी कर्ज माँगने जाता है, ब्राह्मण महाजन एक पाई भी नहीं देता, उस पर उसका विश्वास नहीं है। वह जानता है, इसे रूपये देकर इससे वसूल करना मुश्किल हो जायेगा। इसी ब्राह्मण महाजन के पास एक अछूत आसामी जाता है और बिना किसी लिखा-पढ़ी के रूपये ले आता है। ब्राह्मण को उस पर विश्वास है। वह जानता है कि यह बेईमानी नहीं करेगा।**[27]

प्रेमचन्द के लेखों से यह स्पष्ट है कि वह सामंतवादी-ब्राह्मणवादी संस्कृति, औद्योगिक संस्कृति और दलित संस्कृति, सभी के, गुण-दोषों की अच्छी तरह जानते थे। अत: प्रश्न यह है कि उन्होंने एक निष्ठावान, ईमानदार और सरल हृदय दलित को जान बूझकर द्विज संस्कृति की चाकरी में क्यों खपा दिया? क्या वह दलित समाज को द्विज संस्कृति की चाकरी करने के लिए प्रेरित कर रहे थे कि ऐसी चाकरी करने पर सूरदास की भाँति अन्य दलितों की भी प्रतिमाएँ बनाई जाएँगी, जिन पर द्विज जाति के लोग भी फूल मालाएँ अर्पित करेंगे। लगता तो यही है कि प्रेमचन्द एक ऐसे दलित नेता की प्रतिमा गढ़ रहे थे, जो सूरदास की तरह द्विज संस्कृति की चाकरी कर सके, औद्योगिक संस्कृति का जमकर विरोध करे, जिसे साम्राज्यवादी ताकतों के विरूद्ध खड़ा किया जा सके, जिसे सामंतवादी-ब्राह्मणवादी ताकतों से कभी कोई शिकायत न हो भले ही उसे उसकी जाति और दृष्टिबाधित होने के कारण कितना भी अपमानित किया जाए। दरअसल सूरदास की जाति और उसका

दृष्टिबाधित होना भी द्विज समाज के लिए कौतुक की बात है। अब प्रश्न यह है कि **प्रेमचन्द को डॉ. अम्बेडकर और स्वामी अछूतानन्द जैसे दलित नेता स्वीकार क्यों नहीं थे? उन्हें सूरदास की प्रतिमा क्यों गढ़नी पड़ी?** इसका उत्तर भी स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर और स्वामी अछूतानन्द सरीखे दलित नेता अपने शत्रु नम्बर एक–सामांतवाद और ब्राह्मणवाद को अच्छी तरह पहचानते थे। इन नेताओं को भरमाया नहीं जा सकता था कि दलित समाज का शत्रु नमबर एक–सामंतवाद और ब्राह्मणवाद न होकर साम्राज्यवाद है। डॉ. अम्बेडकर ने साम्राज्यवाद को दलित समाज का शत्रु नम्बर एक नहीं माना, इसे सदैव शत्रु नम्बर दो ही माना क्योंकि उनकी दृढ़ मान्यता थी कि सामंतवाद और ब्राह्मणवाद ही दलित समाज के शत्रु नम्बर एक हैं। डॉ. अम्बेडकर एवं अन्य दलित नेताओं ने औद्योगिक विकास का विरोध भी नहीं किया। अतः साम्राज्यवाद को शत्रु नम्बर एक दिखाने, औद्योगिक विकास का विरोध करने और वर्णव्यवस्था को कायम रखने के उद्‌देश्य से प्रेमचन्द को सूरदास की प्रतिमा गढ़नी पड़ी।

यह बात ठीक है कि प्रेमचन्द ने ब्राह्मणवाद की आलोचना भी खूब की है लेकिन वह सामंतवाद और ब्राह्मणवाद को 'शत्रु नम्बर दो मानते थे, उनके लिए शत्रु नम्बर एक साम्राज्यवाद ही था। साम्राज्यवाद की आलोचना करते समय प्रेमचन्द ने सामंतवाद और ब्राह्मणवाद को क्लीन चिट भी दे दी–''कहीं अछूतों को हमसे भड़काने की कोशिश की जायेगी और की जा रही है कहीं हिन्दू मुसलमानों को लड़ा देने के मंसूबे सोचे जायेंगे। हमें इन सब चालों को तीव्र दृष्टि से देखते रहना चाहिए। क्या जमाने की खूबी है कि जिन लोगों ने अछूतों को उससे कहीं ज्यादा दलित किया है, जितना कट्टर से कट्टर हिन्दू समाज कर सकता था, वह आज अछूतों के शुभचिन्तक बने हुए हैं। बेगार की सख्तियों का दोष किस पर है, हिन्दू समाज पर या सरकार पर? उन्हें ताड़ी, शराब, गाँजा, चरस पिला–पिलाकर कौन रूपये कमाता है, सरकार या हिन्दू समाज? प्रारंभिक शिक्षा का बिल सरकार ने पेश किया था या स्वर्गीय मिस्टर गोखले ने?... उसकी (सरकार की) शुभ चिंतना पर हमारे दलित–समाज के नेता लोग भरोसा न करेंगे। हिन्दू–समाज अपने दलित भाइयों के प्रति अपना कर्त्वय समझने लगा है।[28] अर्थात प्रेमचन्द का निष्कर्ष यही हुआ कि हिन्दू समाज (द्विज समाज) ने दलितों का उतना शोषण–उत्पीड़न नहीं किया है, जितना साम्राज्यवादी सरकार ने किया है। यहाँ सबसे बड़ा चमत्कार तो यह हुआ है कि द्विज समाज दलितों के प्रति अपनी जिम्मेदारी भी समझने लगा है।

रंगभूमि के लेखक प्रेमचन्द ने सूरदास और दलित समाज के प्रति क्या खूब जिम्मेदारी निभाई है! दलित पाठक और आलोचक इस बात को अच्छी तरह समझ रहे हैं। रंगभूमि के द्विज समाज ने सूरदास और दलित समाज के प्रति किस तरह की जिम्मेदारी निभाई है, एक बार यह भी देख लिया जाये। रंगभूमि के लेखक से प्रेरणा

पाकर 'रंगभूमि' का द्विज समाज सूरदास की प्रतिमा स्थापित करता है। यह कोई मामूली प्रतिमा नहीं थी। एक भव्य प्रतिमा थी, इस प्रतिमा के लिये द्विज समाज ने उस दौर में एक लाख से अधिक रूपये का चंदा इकट्ठा किया। प्रेमचन्द सूरदास की इतनी भव्य प्रतिमा स्थापित करवाने के लिए द्विज समाज का सहयोग पाने में सफल हुए, यह निश्चित रूप से एक बड़ी उपलब्धि है। प्रेमचन्द की इस उपलब्धि का हिन्दी साहित्य के इतिहास में खूब शोर मचा लेकिन इसी शोर में उस भव्य प्रतिमा के तोड़े जाने की आवाज दबकर रह गई। हुआ कुछ यूँ कि सूरदास की भव्य प्रतिमा और उसकी विजय को राजा महेन्द्र कुमार सिंह सहन नहीं कर पाया–''उसने क्षण भर तक मूर्ति को सर से पाँव तक देखा और उसी यंत्र से मूर्ति पर आघात किया। तड़ाक की आवाज सुनायी दी और मूर्ति धमाके के साथ भूमि पर आ गिरी और उसी मनुष्य पर, जिसने उसे तोड़ा था। वह कदाचित दूसरा आघात करने वाला था, इतने में मूर्ति गिर पड़ी। भाग न सका, मूर्ति के नीच दब गया। प्रातः काल लोगों ने देखा, तो राजा महेन्द्र कुमार सिंह थे। सारे नगर में खबर फैल गयी कि राजा साहब ने सूरदास की मूर्ति तोड़ डाली और खुद उसी के नीचे दब गये। जब तक जिये, सूरदास के साथ वैर–भाव रक्खा, मरने के बाद भी द्वेष करना न छोड़ा।[29]

राजा महेन्द्रकुमार सिंह की जो मानसिकता सूरदास के प्रति है, वही मानसिकता द्विज समाज की दलित समाज के प्रति है। राजा महेन्द्र कुमार सिंह तो द्विज मानसिकता का प्रतीक हैं। द्विज समाज ने दलित–नेतृत्व को स्वीकार नहीं किया, उसे यह स्वीकार नहीं कि कोई सूरदास उस समाज का नेता बने, उसकी भव्य प्रतिमा लगे, उसे शहीद का दर्जा मिले अथवा वह विजय का प्रतीक चिन्ह बने। यही कारण है कि स्वतंत्र भारत में भी ऐसी असंख्य घटनाएँ घटीं, जिनमें डॉ. अंबेडकर की मूर्तियाँ तोड़ी गईं। संबोधन में उठी डॉ. अंबेडकर की उँगली को यह द्विज समाज सहन नहीं कर पाता। डॉ. अंबेडकर यदि दलित प्रश्नों को पीछे छोड़कर केवल स्वाधीनता की लड़ाई लड़ते तब भी द्विज समाज उन्हें अपना नेता स्वीकार नहीं करता। तब भी गाँधी ही को राष्ट्रनायक बनाया जाता। जो द्विज समाज प्रेमचन्द के सूरदास को भी पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाता, वह डॉ. अंबेडकर को कैसे सहन कर पायेगा? राजा महेन्द्र सिंह ने सूरदास के जीते जी उसके साथ वैर–भाव रखा, मरने के बाद भी द्वेष करना न छोड़ा। उसी प्रकार द्विज समाज ने डॉ. अंबेडकर के जीते जी उनके प्रति वैर–भाव रखा और उनकी मृत्यु के बाद भी द्वेष करना न छोड़ा। स्वयं प्रेमचन्द ने भी कभी डॉ. अंबेडकर और स्वामी अछूतानंद को स्वीकार नहीं किया और उनके समनांतर 'सूरदास' की मूर्ति गढ़ी, जिसे राजा महेन्द्र कुमार सिंह ने तोड़ दिया। यद्यपि दलित आलोचकों को भी सूरदास की वह मूर्ति स्वीकार नहीं है। प्रेमचन्द द्वारा गढ़ी गई इस मूर्ति के प्रति दलित आलोचकों के नकार का एकमात्र

कारण यह नहीं है कि प्रेमचन्द ने सूरदास का अपमानजनक चित्रण किया है और उसकी जाति का उल्लेख बार-बार अपमानजनक ढंग से किया है बल्कि इस नकार का एक बड़ा कारण यह है कि 'रंगभूमि' के लेखक प्रेमचन्द हिन्दूवादी (ब्राह्मणवादी) संस्कृति के प्रवक्ता बनकर सामने आते हैं।

रंगभूमि : दलित पाठ-4

सूरदास को औद्योगिक संसकृति के विरूद्ध खड़ा करके वर्णव्यवस्था को बचाने का प्रयास तो किया ही गया है, इसके अलावा 'रंगभूमि' की केन्द्रीय स्त्री पात्र सोफिया को हिन्दू धर्म-संस्कृति की प्रवक्ता बनाकर स्वयं प्रेमचन्द भी उसी ब्राह्मणवादी संस्कृति के प्रवक्ता बन गये हैं। यूँ तो प्रेमचन्द ने ब्राह्मणवाद और राष्ट्रवाद की भी आलोचना की है और गाँधी के कुछ-एक सिद्धांतों से भी असहमत हुए हैं लेकिन हिन्दूवादी संस्कृति, राष्ट्रीयता और गाँधीवाद के संयोग ने कुछ ऐसा असर पैदा किया कि प्रेमचन्द उसके सम्मोहन से नहीं बच पाये। वह एक बिन्दु पर आकर हिन्दूवादी संस्कृति, राष्ट्रीयता और गाँधीवाद के प्रवक्ता बन गये। प्रेमचन्द हिन्दूवादी संस्कृति के बचाव में इतना आगे बढ़ जाते हैं कि दलितों के धर्मपरिवर्तन को भी स्वीकार नहीं कर पाते। वह 'रंगभूमि' का केन्द्रीय खलनायक भी उस पात्र (जॉन सेवक) को बनाते हैं, जिसके पुरखे धर्मपरिवर्तन करके ईसाई बन गये थे। दिलचस्प यह है कि प्रेमचन्द औद्योगिक संस्कृति का विरोध करने के लिए भी किसी अंग्रेज ईसाई को रंगभूमि का खलनायक नहीं बनाते बल्कि एक धर्मपरिवर्तित दलित ईसाई को बनाते हैं और एक हिन्दू दलित को एक ईसाई दलित के विरूद्ध खड़ा करते हैं। हिन्दू दलित भीख माँगकर और ब्राह्मणवाद का पोषक होकर भी (या कहा जाये कि ब्राह्मणवाद का पोषक बनकर ही) राष्ट्रनायक बन जाता है और ईसाई दलित ब्राह्मणवाद से मुक्त होकर भी खलनायक बनता है और गालियाँ खाता है-''वही तो क्रिरस्तान हैं, जो गली-गली ईसा मसीह के गीत गाते फिरते हैं। डोमड़ा, चमार जो गिरजा में जाकर खाना खा ले, वही किरस्तान हो जाता है। वही बाद में कोट-पतलून पहनकर साहब बन जाते हैं।''[30] धर्मपरिवर्तन करने वाले दलितों को प्रेमचन्द यह बताना भी नहीं भूले कि ईसाई धर्म में भी वही भेदभाव है, जिससे मुक्त होने के लिए दलित धर्मपरिवर्तन कर रहे हैं-''अगर प्रभु ईसू ने अपने रूधिर से हमारे (ईसाइयों के) पापों का प्रायश्चित कर दिया, तो फिर ईसाई समान दशा में क्यों नहीं हैं? अन्य मतावलंबियों की भाँति हमारी जाति (ईसाई धर्म) में अमीर-गरीब, अच्छे-बुरे, लँगड़े-लूले, सभी तरह के लोग मौजूद हैं।''[31]

सोफिया के माध्यम से प्रेमचन्द द्वारा की गई हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म की तुलना कितनी हास्यास्पद है! यहाँ वर्णभेद, जातिभेद और ब्राह्मणवाद की तुलना

ईसाई धर्म में मौजूद अमीरी-गरीबी के भेद, व्यक्ति की अच्छाई बुराई और शारीरिक विक्लांगता से की गई है। यह कितना हास्यास्पद लगेगा कि एक लेखक दलितों से कहे- 'तुम धर्मपरिवर्तन मत करो क्योंकि दूसरे धर्म में भी दृष्टिबाधित और विक्लांग लोग पाये जाते हैं, अच्छे और बुरे लोग पाये जाते हैं अथवा राजा और रंक पाये जाते हैं।' वास्तविकता यह है कि प्रेमचन्द यह अच्छी तरह जानते थे कि धर्मपरिवर्तन का मुख्य कारण न तो अमीरी-गरीबी है, न शारीरिक विक्लांगता-शारीरिक पूर्णता और न ही व्यक्तिगत अच्छाई-बुराई। धर्मपरिवर्तन का मुख्य कारण वर्णव्यवस्था और जाति आधारित उत्पीड़न और शोषण है। क्रूर एवं भयंकर मनुवादी व्यवस्था से मुक्त होने के लिए दलित धर्मपरिवर्तन करता है। यद्यपि वह स्वयं भी जनता है कि धर्मपरिवर्तन होने मात्र से वह रातों रात रंक से राजा नहीं बन जाएगा। ऐसे भी वह रंक होने के कारण धर्मपरिवर्तन नहीं करता, दलित होने के कारण उसे धर्मपरिवर्तन करना पड़ता है।

कुछ लोग प्रेमचन्द को दलितों का मसीहा कहते हैं लेकिन ये कैसा मसीहा है, जिसे इतनी सीधी-सरल बात भी समझ नहीं आई कि दलितों को धर्मपरिवर्तन क्यों करना पड़ रहा था? प्रेमचन्द ने दलितों के धर्मपरिवर्तन को स्वीकारने के बाजय धर्मपरिवर्तन को रोकने की युक्तियाँ निकालीं। उन्होंने एक तरफ तो दलितों को यह बताना जारी रखा कि ''ईसाइयों को तनिक भी दया-धरम का विचार नहीं होता। बस, सबको ईसाई बनाते फिरते हैं।''[32] ईसाई धार्मिकता के मामले में हिन्दुओं से ज्यादा कट्टर होते हैं। एक ईसाई की बेटी सोफिया अपने स्वतंत्र विचारों के कारण अपने ही घर से बहिष्कृत हुई और उसे एक राजपूत हिन्दू परिवार ने शरण दी और उसकी वैचारिक स्वतंत्रता की रक्षा की। प्रेमचन्द एक तरफ तो ईसाई धर्म पर कालिख पोत रहे थे और दूसरी तरफ ब्राह्मणों को सचेत कर रहे थे-''हिन्दू समाज की और राष्ट्र की जो वर्तमान अधोगति हो रही है, उसके जिम्मेदार आप ही जैसे लोग हैं और हिन्दू जाति अब आपके पीछे आँखें बन्द करके चलने को तैयार नहीं। आपने आठ करोड़ हिन्दुओं को मुसलमान बना दिया। यह छः करोड़ अछूत भी आपके विद्यावाण के बेधे हुए हैं, क्या हिन्दू धर्म को संसार से मिटाकर ही दम लेंगे, आपको अपना हित भी नजर नहीं आता? क्या मंदिरों के पुजारियों और मठों के महंतों से हिन्दू जाति बनी हुई है? पूजा करने वाले भी रहेंगे, या पूजा कराने वाले ही मंदिरों को स्थाई रखेंगे? एक वह जातियाँ हैं, जो दूसरों को अपने में मिलाकर फूली नहीं समाती। आज एक चमार मुसलमान हो जाये, सारा मुसलिम समाज उसका स्वागत करेगा, लेकिन यह मेमोरियलबाज लोग, जो हिन्दू जाति के रक्षक होने का दावा करते हैं, यह भी नहीं सह सकते कि कोई बाहर का आदमी उनके देवताओं के दर्शन कर सके।''[33]

प्रेमचन्द एक तरफ तो दलितों को ईसाई धर्म के प्रति शंकाग्रस्त कर रहे थे, डरा रहे थे और समझा भी रहे थे कि वे धर्मपरिवर्तन न करें। दूसरी तरफ द्विज समाज को सचेत कर रहे थे कि वे दलितों का विश्वास जीतें और उन्हें धर्मपरिवर्तन न करने दें। दलितों को धर्मपरिवर्तन करने से रोकने की इच्छा से प्रेरित होकर प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' उपन्यास में दलितों को मंदिर प्रवेश भी करा दिया लेकिन द्विज समाज ने दलितों को स्वीकार नहीं किया। दलित भी द्विज समाज पर भरोसा नहीं कर पाये, इस प्रकार दलितों का धर्मपरिवर्तन का सिलसिला जारी रहा। यह बात ठीक है कि दलितों का एक बड़ा समूह गाँधी और प्रेमचन्द के प्रभाव में आ चुका था लेकिन ऐसे दलितसमूह एवं दलित नेता भी उस समय थे, जो गाँधी और प्रेमचंद की अछूतोद्धार की मुहिम से सहमत नहीं थे, वे उसे एक छलावा मानते थे। दलित मुद्दों पर गाँधी और डॉ. अम्बेडकर का टकराव इसी असहमति की अभिव्यक्ति है। स्वामी अछूतानन्द ने भी दो टूक शब्दों में कहा–''गाँधी जी का यह आमरण अनशन अछूतों के राजनैतिक अधिकारों के पनपते पौधे को जड़ से उखाड़ फेंकने का नीचतम प्रयत्न और अछूतों पर अमानवीय अत्याचार है।... हिन्दू लोग नासिक सत्याग्रह के समय कहाँ थे, जो अब अपने देव मंदिरों को अछूतों के लिए खोलने का ढोंग रच रहे हैं।''[34] अंततः गाँधी अथवा प्रेमचन्द न तो कई दलित समूहों और दलित नेताओं का विश्वास जीत पाये और न उन्हें धर्मपरिवर्तन करने से रोक पाये।

अंततः प्रेमचन्द ने ईसाई धर्म पर कालिख पोतने का बीड़ा उठाया। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह धर्मपरिवर्तित ईसाई दलित जॉन सेवक को रंगभूमि का खलनायक बनाते हैं और उसके माध्यम से पूँजीवादी संस्कृति की विसंगतियों को भी ईसाई धर्म पर थोप देते हैं। इसके अलावा उसकी पुत्री सोफिया को उपन्यास की नायिका बनाकर उसके द्वारा ईसाई धर्म की निन्दा और हिन्दू धर्म का महिमामंडन कराते हैं–

''**सोफिया**–धर्म विचार स्वतन्त्रता का गला घोंट देता है। मैं अपनी आत्मा को किसी मत के हाथों नहीं बेचना चाहती। मुझे ऐसा ईसाई पुरुष मिलने की आशा नहीं जिसका हृदय इतना उदार हो कि वह मेरी धार्मिक शंकाओं को दरगुजर कर सके। मैं परिस्थिति से विवश होकर ईसा को खुदा का बेटा और अपना मुक्तिदाता नहीं मान सकती, विवश होकर गिरजाघर में ईश्वर की प्रार्थना करने नहीं जाना चाहती। मैं ईसा को ईश्वर नहीं मान सकती।

इंदु–मैं तो समझती थी, तुम्हारे यहाँ हम लोगों के यहाँ से कही ज्यादा आजादी है, जहाँ चाहो, अकेली जा सकती हों। हमारा तो घर से निकलना मुश्किल है।

सोफिया–लेकिन इतनी धार्मिक संकीर्णता तो नहीं है?

इंदु–नहीं, कोई किसी को पूजा-पाठ के लिए मजबूर नहीं करता।...

सोफिया–हमारी स्वाधीनता लौकिक और इसलिए मिथ्या है। आपकी स्वाधीनता मानसिक और इसलिए सत्य है।''[35]

प्रेमचन्द ने सोफिया के माध्यम से अंततः यह निष्कर्ष निकाला कि ईसाई धर्म संकीर्ण है और हिन्दू धर्म उदार है। ईसाइयों की स्वाधीनता लौकिक है, इसलिए मिथ्या है जबकि हिन्दुओं की स्वतंत्रता मानसिक और आध्यात्मिक है, उनकी स्वतंत्रता ही सच्ची स्वतंत्रता है। प्रत्येक ईसाई को ईसा मसीह को ईश्वर का पुत्र मानना पड़ता है, जबकि हिन्दुओं के पास बत्तीस करोड़ देवता हैं, एक परिवार का प्रत्येक सदस्य अलग-अलग देवताओं को अपना आराध्य बना सकता है। हिन्दुओं की इस तथाकथित आध्यात्मिक स्वतंत्रता का महिमामंडन प्रेमचन्द सोफिया के माध्यम से करते हैं–''मैंने देखे हैं हिन्दू घरानों में भिन्न-भिन्न मतों के प्राणी कितने प्रेम से रहते हैं। बाप सनातन-धर्मावलंबी है, तो बेटा आर्य समाजी। पति ब्रह्मसमाज में है, तो स्त्री पाषाण-पूजकों में। सब अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं कोई किसी से नहीं बोलता। हमारे यहाँ आत्मा कुचली जाती है। फिर भी यह दावा है कि हमारी शिक्षा और सभ्यता विचार-स्वतंत्र्य के पोषक हैं।''[36]

ईसाई धर्म में आत्मा कुचली जाती है और हिन्दु धर्म में आत्मा का उत्थान होता है। ऐसे निष्कर्ष निकालने और ईसाई धर्म की निन्दा करने के मामले में प्रेमचन्द ने कट्टर सनातनधर्मी हिन्दुओं को भी पीछे छोड़ दिया है–''क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ जैसे और हजारों आदमी जो नित्य गिरजे आते हैं, भजन गाते हैं, आँखें बन्द करके ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं। अगर अब तक तुम्हें नहीं मालूम है तो अब मालूम हो जाना चाहिए कि धर्म केवल स्वार्थ संगठन है। संभव है, तुम्हें ईसा पर विश्वास हो, शायद तुम उन्हें खुदा का बेटा या कम से कम महात्मा समझते हो, पर मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है। मेरे हृदय में उनके प्रति उतनी ही श्रद्ध है जितनी किसी मामूली फकीर के प्रति।... लेकिन इतना अविश्वास होने पर भी मैं रविवार को सौ काम छोड़कर गिरजे अवश्य जाता हूँ। न आने से अपने समाज में अपमान होगा उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा। फिर अपने ही घर में अशांति फैल जायेगी।''[37]

धर्म को स्वार्थ संगठन मानने वाले और धार्मिक पाखंड की आलोचना करने वाले प्रेमचन्द एकमात्र नहीं है बल्कि आधुनिक चेतना और वैज्ञानिक सोच की लंबी परंपरा है। लेकिन आश्चर्यजनक यह है कि रंगभूमि में प्रेमचन्द की आधुनिक चेतना हिन्दू धर्म की चाकरी में लग जाती है। यही कारण है कि वह ईसाई धर्म को तो स्वार्थ संगठन मानते हैं और उसके पाखंड एवं मिथ्याचार पर चोट भी करते हैं। दूसरी तरफ उन्हें हिन्दू धर्म आध्यात्मिक स्वतंत्रता का प्रतीक नजर आने लगता है और उसके पाखंडों में वैज्ञानिकता नजर आने लगती है। मूर्तिपूजा की तथाकथित

वैज्ञानिकता की पुष्टि करते हुए सोफिया करती है–''मैं मूर्तिपूजा को सर्वथा मिथ्या समझती थी। मेरा विचार था कि ऋषियों ने केवल मूर्खों की आध्यात्कि शांति के लिए यह व्यवस्था कर दी है, लेकिन इस ग्रन्थ में मूर्तिपूजा का समर्थन ऐसी विद्वत्तापूर्ण युक्तियों से किया गया है कि आज से मैं मूर्तिपूजा की कायल हो गई। लेखक ने इसे वैज्ञानिक सिद्धान्तों से सिद्ध किया है, यहाँ तक कि मूर्तियों का आकार प्रकार भी वैज्ञानिक नियमों ही के आधार पर अवलंबित बतलाया है।''[38]

सोफिया के चरित्रांकन को सरसरी दृष्टि से देखने भर से ईसाई धर्म के प्रति प्रेमचन्द की घृणा प्रकट हो जाती है। कहना तो यह चाहिए कि प्रेमचन्द ने ईसाई धर्म के प्रति अपनी घृणा को संचित करके सोफिया के चरित्र में उड़ेल दिया है। सोफिया धर्मपरिवर्तित ईसाई परिवार की कन्या है। यद्यपि वह करूणा की मूर्ति है लेकिन उसे धर्म द्वारा प्रचारित नकली दया-करूणा का पाखंड स्वीकार नहीं। धर्मग्रंथों और गिरजाघर में उसको आस्था-विश्वास नहीं है। वह ईसा मसीह के कथनों पर भी शंका करती है। वह आस्था विश्वास और धर्मग्रंथों को तर्क और विज्ञान की कसौटी पर परखती है और उन्हें खोटा पाती है। वह अपनी माँ के आग्रह पर भी धार्मिक आडम्बरों में सम्मिलत होने को तैयार नहीं होती। सोफिया की वैज्ञानिक एवं आधुनिक चेतना और उसकी माँ की धार्मिक कट्टरता के द्वंद्व ने घर को कुरूक्षेत्र बना दिया। सोफिया की वैज्ञानिक एवं आधुनिक चेतना पर व्यंग्य करते हुए उसकी माँ कहती है- ''बेशक, ईश्वर-ग्रन्थ पढ़ना बेगार है, मसीह का नाम लेना पाप है, तुझे तो उस भिखारी अंधे की बातों में आनन्द आता है, हिन्दुओं के गपोड़े पढ़ने में तेरा जी लगता है ईश्वर वाक्य तो तेरे लिए जहर है। खुदा जाने, तेरे दिमाग में यह खब्त कहाँ से समा गया है। जब देखती हूँ तुझे अपने पवित्र धर्म की निन्दा ही करते देखती हूँ। तू अपने मन में भले ही समझ ले कि ईश्वर वाक्य कपोल कल्पना है, लेकिन अंधे की आँखों में अगर सूर्य का प्रकाश न पहुँचे, तो सूर्य का दोष नहीं अँधे की आँखों का ही दोष है।''[39]

माँ के कटु वचन और व्यंग्य भी सोफिया के विचारों को नहीं बदल पाते। सोफिया अपना घर छोड़ने को तैयार हो जाती है लेकिन वह गिरजाघर जाने को तैयार नहीं होती। सोफिया धार्मिक आडम्बरों के विरूद्ध खुला विद्रोह कर देती है, वह अपनी वैज्ञानिक सोच और आधुनिक चेतना की खातिर अपना घर भी छोड़ देती है। रंगभूमि के आरंभिक पृष्ठों में सोफिया के इस चरित्रांकन के आधार पर उसे आधुनिक चेतना संपन्न विद्रोहिणी स्त्री कहा जा सकता था, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है।

ईसाई धर्म के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखने वाली आधुनिक चेतना संपन्न, विद्रोहिणी सोफिया हिन्दू धर्म के पाखंड का खूब महिमामंडन करती है। गिरजाघर

में जाकर प्रार्थना करने को आडंबर मानने वाली सोफिया हिन्दुओं की मूर्तिपूजा में भी वैज्ञानिकता खोज निकालती है। अपने दादा के लिए ईसाई धर्म ग्रन्थों का वाचन करने के काम को बेगार मानने वाली सोफिया हिन्दू धर्म ग्रन्थों में मुक्ति का मार्ग खोज निकलती है। अंततः वह इस निष्कर्ष पर भी पहुँच जाती है कि ईसाइयों की स्वाधीनता लौकिक है, इसलिए मिथ्या है जबकि, हिन्दुओं की स्वाधीनता मानसिक और आध्यात्मिक है, उनकी स्वतंत्रता ही सच्ची स्वतंत्रता है।

धर्म से विमुख सोफिया हिन्दू धर्म पर कैसे सम्मोहित हो गई इसका कोई कारण लेखक ने उपन्यास में नहीं बताया है। हाँ इतना जरूर है कि सोफिया का नायक विनय सिंह एक हिन्दु है, हिन्दुओं में भी तथाकथित उच्चकुल का राजपूत है। सोफिया विनय सिंह की तरफ आकर्षित ही नहीं होती अपितु अप्रत्याशित रूप से उसके धर्म और जाति पर भी सम्मोहित हो जाती है। उसका चमत्कारिक ढंग से हिन्दुकरण हो जाता है। विनय सिंह भी सोफिया के हिन्दूवादी विचारों से प्रभावित होकर उसके विषय में कहता है ''जनम से ईसाई भले ही हो, पर संस्कारों से, कर्मों से वह आर्य महिला है।''[40]

ईसाई धर्म के प्रति सोफिया की आलोचनात्मक दृष्टि बिल्कुल नहीं अखरनी चाहिए थी लेकिन अखरती है क्योंकि यह ईसाई धर्म के प्रति अलोचनात्मक दृष्टि नहीं बल्कि दुष्प्रचार है। प्रेमचन्द जैसे लेखक धार्मिक पाखंडों और स्वार्थो पर चोट करें, यह स्वाभाविक ही है लेकिन एक धर्म विशेष के विरूद्ध दुष्प्रचार करना और घृणा का प्रचार करना न तो लेखकीय कर्म हो सकता है और न प्रगतिशीलता, यह तो धार्मिक विद्वेष और कट्टरता है। रंगभूमि में धर्म के प्रति प्रेमचन्द की यह कैसी आलोचनात्मक दृष्टि है? कि उन्हें गिरजाघर में की जाने वाली ईसाइयों की प्रार्थना भी पाखंड नजर आती है, जबकि हिन्दुओं की मूर्ति पूजा में वैज्ञानिक पद्धति खोज निकालते हैं। वह ईसाई धर्म की आलोचना में घृणा की हदों को भी पार कर जाते हैं और हिन्दू धर्म का महिमामंडन करते समय उन्हें हिन्दू धर्म में एक भी विसंगति दिखाई नहीं पड़ती। यदि वह किसी एक धर्म की आलोचना करते और दूसरे धर्म के मामले में चुप्पी साध लेते, तो भी शायद बात दबी-ढकी रह जाती अथवा प्रेमचन्द भक्त उनके ईसाई-विद्वेष पर लीपा-पोती कर लेते। लेकिन रंगभूमि में ईसाई-विद्वेष पर लीपा-पोती की कोई गुंजाइश भी प्रेमचन्द ने नहीं छोड़ी है। अभी तो इस प्रश्न पर विचार करना भी शेष है कि जो प्रेमचन्द अपने अन्य उपन्यास, कहानी और लेखों में हिन्दू-धर्म की विसंगतियों पर भी प्रहार कर रहे थे, हिन्दू धर्म में व्याप्त जातिवाद और ब्राह्मणवाद से विचलित और व्यथित हो रहे थे, वही प्रेमचन्द रंगभूमि में हिन्दू धर्म के प्रति इतने सम्मोहित कैसे हो गए? हिन्दू धर्म को मानसिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता, सच्ची स्वतंत्रता का प्रतीक कैसे घोषित कर दिया? रंगभूमि

में एक स्तर पर जाकर प्रेमचन्द ने हिन्दू धर्म को महानायक और ईसाई धर्म को खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया है। जबकि रंगभूमि में सूरदास के अलावा विनय सिंह भी नायक पद का दावेदार है फिर हिन्दू धर्म को महानायक बनाने की आवश्यकता क्यों पड़ी?

ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द के मन में ईसाई धर्म को लेकर अपार विद्वेष और घृणा थी। उन्होंने रंगभूमि में ईसाई धर्म को खलनायक के रूप में प्रस्तुत करने के लिये ही हिन्दू धर्म को महानायक बनाकर सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया है अन्यथा हिन्दू धर्म में व्याप्त जातिवाद और ब्राह्मणवाद के कोढ़ के रहते हुए प्रेमचन्द उसे सच्ची स्वतंत्रता का प्रतीक कदापि घोषित न करते। ईसाई धर्म में मिलने वाली लौकिक स्वतंत्रता को नीचा दिखाने और नकारने के लिए ही प्रेमचन्द ने हिन्दू धर्म में मिलने वाली तथाकथित आध्यात्मिक-मानसिक स्वतंत्रता और सच्ची स्वतंत्रता की बात की है।

प्रेमचन्द तथाकथित आध्यात्मिक स्वतंत्रता का महिमामंडन करते समय यह भी भूल गये कि दलितों को तथाकथित आध्यात्मिक स्वतंत्रता से पहले लौकिक स्वतंत्रता की जरूरत थी, प्रेमचन्द यह भी भूल गये कि वर्णव्यवस्था के रहते हुए हिन्दू धर्म में दलितों को किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता मिलना संभव नहीं था। जिस वर्णव्यवस्था और हिन्दू धर्म ने दलितों से मनुष्य होने का अधिकार भी छीन लिया वे दलितों को आध्यात्मिक स्वतंत्रता देते थे, ऐसा सोचना भी हास्यास्पद है। रंगभूमि में हिन्दू धर्म की तथाकथित आध्यात्मिक स्वतंत्रता का महिमामंडन करने वाले प्रेमचन्द को स्वयं 'कर्मभूमि' में दलितों को मंदिर प्रवेश कराने के लिये आंदोलन कराना पड़ा। गाँधी द्वारा चलाई गई दलितों के मंदिर प्रवेश की मुहिम के समर्थन में लेख लिखने पड़े थे। सवर्ण हिन्दू दलितों को किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता देने को कदापि तैयार न थे। अतः कुछ दलितों एवं दलित समूहों ने यथार्थ को समझते हुए वर्णव्यवस्था के खूनी पंजों से मुक्त होने के लिए धर्म परिवर्तन कर लिया। रंगभूमि के लेखक प्रेमचन्द संभवतः दलितों के इस धर्म परिवर्तन से चिढ़े हुए थे और दलितों से नाराज थे। यह नाराजगी भी एक कारण है कि प्रेमचन्द ने एक दलित को रंगभूमि का नायक बनाकर भी दलित समस्याओं को रंगभूमि की विषय-वस्तु नहीं बनाया। रंगभूमि का दलित नायक सूरदास दलित जीवन और दलित समस्याओं से कटा हुआ है। यद्यपि रंगभूमि के अन्त में लेखक ने टिप्पणी की है-''संध्या समय प्रीति-भोज हुआ, छूत और अछूत एक ही पंक्ति में खा रहे थे। यह सूरदास की सबसे बड़ी विजय थी।''[41] यहाँ प्रेमचन्द ने सूरदास को उस विजय का तमगा दिया है, जो लड़ाई कभी उसने लड़ी ही नहीं। अछूत समस्या सूरदास के लिए कोई समस्या ही नहीं थी, उसने तो यह मान लिया था कि उसका चमार होना अथवा

दृष्टिबाधित होना उसके पूर्व जन्मों का फल है। फिर अछूत समस्या पर सूरदास की विजय कैसी? रंगभूमि की कथावस्तु में ऐसी कोई समस्या अथवा ऐसा कोई प्रश्न शामिल नहीं किया गया है, जिससे हिन्दू धर्म की तथाकथित महानता पर कोई दाग लगे। ईसाई धर्म पर कालिख पोतने के क्रम में प्रेमचन्द ने हिन्दू धर्म को बेदाग दिखाने प्रयास किया है ताकि ईसाई धर्म पर पोती गई कालिख का रंग और गहरा दिखाई पड़े।

तत्कालीन गुलाम भारत में ईसाई धर्म को खलनायक के रूप में प्रस्तुत करना प्रेमचन्द के लिए सरल कार्य था क्योंकि ईसाई धर्म का संबंध उस शासक वर्ग से था, जिसने भारत को अपना उपनिवेश बनाया हुआ था। लेकिन हिन्दू धर्म को महानायक के रूप में प्रस्तुत करना इतना सरल कार्य नहीं था। जबकि हिन्दू धर्म में व्याप्त जातिवाद और वर्णव्यवस्था के विरूद्ध व्यापक स्तर पर आंदोलन भी शुरू हो चुके थे। हिन्दू धर्म में व्याप्त रूढ़ियों और कुरीतियों (जोकि स्त्री-विरोधी थी, जैसे-सती प्रथा, अनमेल विवाह, विधवाओं की समस्या आदि) के विरूद्ध भी समाज सुधार के आंदोलन शुरू हो चुके थे। ऐसे में रंगभूमि के लेखक प्रेमचन्द के लिए भी हिन्दू धर्म को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करना सरल कार्य नहीं था। यही कारण है कि रंगभूमि में हिन्दू धर्म के तथाकथित लोकतांत्रिक चरित्र और उदारता के महिमामंडन के बावजूद प्रेमचन्द हिन्दू धर्म के कोढ़ पर पूरी तरह पर्दा नहीं डाल पाते। प्रेमचन्द ने जिस सोफिया के माध्यम से हिन्दू धर्म का गुणगान किया, जिस सोफिया का हिन्दूकरण किया, उस सोफिया को हिन्दू (राजपूत) परिवार कदापि स्वीकारने को तैयार नहीं होता। विनय सिंह की बहन और सोफिया की मित्र इंदु सोफिया से कहती है-"मैं तुम्हें यहाँ से अभी पन्द्रह दिन तक न जाने दूँगी। धर्म बाधक न होता, तो कभी न जाने देती। अम्माजी तुम्हें अपनी बहू बनाकर छोड़ती। तुम्हारे ऊपर बेतरह रीझ गयी हैं। जहाँ बैठती हैं, तुम्हारी ही चर्चा करती हैं। विनय भी तुम्हारे हाथों बिका हुआ सा जान पड़ता है। तुम चली जाओगी, तो सबसे ज्यादा दु:ख उसी को होगा।[42] है न हैरानी की बात कि जिस हिन्दू धर्म के तथाकथित लोकतांत्रिक चरित्र और उदारता का महिमामंडन प्रेमचन्द की ओर से सोफिया करती है, वही हिन्दू धर्म उसके प्रेम में बाधा बन गया है। सोफिया के हिन्दूकरण के बावजूद राजपूत हिन्दू परिवार इसे बहू के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। सोफिया और विनय के प्रेम में धर्म किस प्रकार और क्यों बाधा पहुँचाता है, प्रेमचन्द ने ऐसे प्रश्नों को रंगभूमि में तूल नहीं दिया क्योंकि ऐसे प्रश्नों से हिन्दू धर्म की तथाकथित महिमा को बट्टा लगता। अत: प्रेमचन्द ने रंगभूमि में प्रेम-संबंधों में धर्म और समाज की भूमिका पर प्रश्नचिन्ह लगाने के बजाय दो प्रेमियों (विनय और सोफिया) के मिलन के प्रश्न को समाप्त कर दिया। उपन्यास के अंत में दोनों पात्रों को ही रंगभूमि से हटा दिया,

अंत में दोनों ही पात्र विनय और सोफिया आत्महत्या कर लेते हैं। प्रेमचन्द ने उनकी आत्महत्या के खून के छींटे हिन्दू धर्म पर नहीं पड़ने दिये। बावजूद इसके यह प्रश्न तो अब भी जिन्दा है कि यदि विनय और सोफिया आत्महत्या न करते तो क्या उनके प्रेमसंबंधों के प्रति जाति और धर्म उदार हो पाते?

सोफिया की तरह सूरदास की निर्मिति भी हिन्दूवाद और सामंतवाद की चाकरी के लिये हुई है। यही कारण है कि सूरदास अपने साथ हुए अन्याय अपमान और अभावों को अपने पिछले जन्मों के पापों का फल मानता है। उसे विश्वास है कि वर्णव्यवस्था ईश्वर ने बनाई है और वह मनुष्यों के पिछले जन्मों के पापों का दण्ड देने के लिए उन्हें अछूत बनाता है। उसे विश्वास है कि ईश्वर ने उसे उसके पिछले जन्मों के पापों का दण्ड देने के लिए चमार बनाया। शायद पाप ज्यादा भयंकर रहे होंगे इसीलिए उसे दृष्टिबाधित चमार बनाया। रंगभूमि में सोफिया और सूरदास के माध्यम से हिन्दू धर्म का महिमामंडन करने वाले प्रेमचन्द की जुबान पर अन्त में यह सच आ ही गया कि छुआछूत की समाप्ति ही सूरदास की सबसे बड़ी विजय हो सकती थी। प्रेमचन्द से यह एक बड़ी चूक हुई कि सूरदास का संघर्ष तो औद्योगिक संस्कृति के विरूद्ध दिखाया गया है लेकिन उसकी जीत को छुआछूत और जातिवाद पर जीत बताया गया है। जबकि सूरदास के लिए जातिवाद की समस्या कोई समस्या ही नहीं थी। वह तो औद्योगिक संस्कृति के विरूद्ध और सामंतवादी मूल्यों के पक्ष में खड़ा है। ऐसा लगता है कि सूरदास के माध्यम से प्रेमचन्द विभिन्न दलित समूहों और दलित नेताओं से कह रहे थे कि आप लोग औद्योगिक संस्कृति और साम्राज्यवाद के विरूद्ध युद्ध करिए, जातिवाद की समस्या तो चमत्कारिक ढंग से अपने आप ही समाप्त हो जाएगी।

रंगभूमि : दलित पाठ-5

एक दलित को रंगभूमि का नायक बनाकर भी प्रेमचन्द ने दलित समस्याओं को रंगभूमि की विषय-वस्तु नहीं बनाया। इसके विपरीत उन्होंने तथाकथित दलित नायक को हिन्दुत्ववादी और सामंतवादी मूल्यों की रक्षा में औद्योगिक संस्कृति के विरूद्ध खड़ा कर दिया। दलित आलोचक यह मानने को कतई तैयार नहीं कि हिन्दुत्वावदी और सामंतवादी मूल्यों की वकालत करते हुए औद्योगिक संस्कृति अथवा साम्राज्यवाद के विरूद्ध आंदोलन करने से दलित समस्याएँ समाप्त हो सकती हैं और अंग्रेजों से मुक्ति पाने में ही दलितों की मुक्ति है। सूरदास की विजय को जातिवाद के विरूद्ध प्राप्त विजय अथवा दलितों की विजय कैसे माना जा सकता है? यदि सूरदास की लड़ाई औद्योगिक संस्कृति अथवा साम्राज्यवाद के विरूद्ध थी तो प्रेमचन्द उसकी जीत को अछूत समस्या के विरूद्ध प्राप्त जीत क्यों सिद्ध करना चाहते थे? दलित आलोचकों को न तो प्रेमचन्द का यह निष्कर्ष स्वीकार है और न ही सूरदास जैसा धर्मभीरू और हिन्दुवादी दलित नेता।

मूलचन्द सोनकर, सूरज बड़त्या, ईश गंगानिया और डॉ. धर्मवीर सरीखे दलित आलोचकों ने तो रंगभूमि के दलित नायक सूरदास की निर्मिति को दलित समाज के साथ किया गया विश्वासघात माना है। प्रेमचन्द के इस विश्वासघात से डॉ. धर्मवीर तो इतना क्रोधित हुए कि उन पर नस्लवादी टिप्पणी करते हुए उन्हें विश्वासघाती नस्ल के जीव की उपाधि दे डाली। सूरदास के संदर्भ में डॉ. धर्मवीर का सीधा सा प्रश्न है–"रंगभूमि के सूरदास चमार को काल्पनिक महात्मा गाँधी क्यों बनाया गया जबकि वहाँ जीते–जागते स्वामी अछूतानंद विराजमान थे? यह चमारों के असली मुद्दों को झुठलाना और चमारों के असली नेतृत्व को हथियाना था। मैं बड़ी विनयपूर्वक कह रहा हूँ कि प्रेमचन्द को ऐसा बुरा काम नहीं करना चाहिए था। उन्होंने सूरदास चमार के चरित्र–चित्रण में वास्तविकता को धोखा दिया है।''43 सूरज बड़त्या ने रंगभूमि के 'दलित नायक सूरदास' की निर्मिति के संदर्भ में अपनी आशंकाएँ प्रकट करते हुए यह प्रश्न भी उठाया है कि क्या 1924–25 ई० में दलित दस–दस बीघे जमीन के मालिक थे? प्रो. नामवर सिंह की टिप्पणी पर प्रतिक्रिया देते हुए सूरज बड़त्या लिखते हैं–''प्रो. नामवर सिंह भी मानते हैं कि रंगभूमि की विषय–वस्तु अछूत समस्या नहीं है लेकिन अछूत की जमीन तो केन्द्र में है। फिर एक दलित के पास दस बीघे जमीन दिखाने का क्या औचित्य हो सकता है? रंगभूमि उपन्यास 1924 में लिखा गया और 1925 में प्रकाशित होकर सामने आया। यदि यह माना जाये कि दलित वर्ग के साथ भलमनसी और प्रतिबद्धता दिखाने के तहत सूरदास (दलित) के पास दस बीघे जमीन का यूटोपिया गढ़ा है तो फिर सूरदास को भिखारी दिखाने का क्या औचित्य? यानी कि एक दलित के पास इतनी जमीन है लेकिन वह करता क्या है, उसका पेशा क्या है–भीख माँगना। क्या यह एक दलित को श्रम से जी चुराऊँ व्यक्तित्व के रूप में दिखाना चाहते थे प्रेमचन्द। जरा कफन कहानी को याद करें। घीसू और माधव के पास काम है लेकिन वह करना नहीं चाहते। दोनों बाप–बेटे श्रम से जी चुराते हैं। वहाँ भी दोनों दलित हैं क्यों? कफन कहानी की समस्या भी अछूत नहीं है।"[44]

रंगभूमि के नायक सूरदास के संदर्भ में अधिकांश दलित आलोचकों ने यह प्रश्न उठाया है कि रंगभूमि का नायक चमार (दलित) क्यों है? जबकि उसकी समस्या अछूत समस्या नहीं है। यदि रंगभूमि का नायक एक दलित को ही बनाया जाना था तो उसे दलित समाज और समस्याओं से क्यों काट दिया गया? इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए मूलचंद सोनकर लिखते हैं–"आश्चर्य तो यह है कि सूरदास की चारित्रिक विकास यात्रा में एक भी चमार सहयात्री नहीं है। सूरदास और चमार एक दूसरे के साथ अजनबीपन की हद तक निर्लिप्त हैं।"[45]

दलित समाज और समस्याओं से सूरदास की दूरी के कारण डॉ. धर्मवीर सूरदास को दलित नहीं मानते बल्कि हिन्दुत्व और सामंतवाद की चाकारी में लगा

हुआ कायस्थ मानते हैं- ''जब 'रंगभूमि' में सूरदास को चमार जाति का बनाया था तो सूरदास के सरोकार भी वे ही रहने चाहिए थे जो चमार जाति के लोग सह और भुगत रहे थे। उन्हीं से सूरदास का चिन्तन निकलना चाहिए था। लेकिन नहीं, प्रेमचन्द ने सूरदास को चमार जरूर बनाया है, लेकिन चमारों की समस्याओं से उसका तनिक भी वास्ता नहीं रखा-उलटे, प्रेमचन्द सूरदास में प्रवेश कर गये। भला कहाँ प्रेमचन्द कायस्थ का चिन्तन और कहाँ सूरदास चमार का यथार्थ? इसीलिए एसे अनमेल चरित्र में जो नुकसान हुआ वह यथार्थ का हुआ। सूरदास में चमार गायब और कायस्थ ने स्थानान्तरण कर लिया है।[46]

सूरदास की वाणी में स्वयं प्रेमचन्द बोल रहे थे, डॉ. धर्मवीर की इस मान्यता को नकारने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता। 'कलम का सिपाही' में अमृत राय ने भी यही माना है कि गाँधी और प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के मेल से सूरदास के चरित्र की निर्मिति हुई है-"अपने हृदय के रक्त से प्रेमचन्द ने सूरदास की रचना की है, जिस अर्थ में अब तक किसी की रचना नहीं की। सूरदास की उस अस्थिपिंजर, चीमड़ देह में स्पंदित हृदय प्रेमचन्द का है। न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, सुन्दर-असुन्दर जीवन की सारी मीमांसा जो सूरदास के माध्यम से प्रस्तुत हैं, प्रेमचन्द की अपनी है। रंगभूमि प्रेमचन्द की आज तक की जीवन उपलब्धि का महाकाव्य है और उसमें सूरदास ही प्रेमचन्द है।[47] (सूरदास गाँधी की छाया है।) इस निष्कर्ष को हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने दोहराया है। यद्यपि कुछ आलोचकों ने दो टूक शब्दों में यह भी कहा है कि सूरदास को गाँधी बनाने के प्रयास में प्रेमचन्द असफल हुए हैं। अंततः सूरदास की वाणी में प्रेमचन्द स्वयं बोलने लगते हैं- ''जब प्रेमचन्द, मनुष्यता की सीमा पार करवाकर उसे देवत्व के आसन पर खींच लाने की चेष्टा करते हैं तब बेचारे सूरदास की अवस्था बड़ी सोचनीय हो जाती है न वह मनुष्य ही रह पाता है और न देवता की सूखी विवेकहीन कल्पना ही उसे कुछ वैसा आकार दे पाती है। तब वह मिठुआ के चाचा का स्वतन्त्र रूप खोकर, प्रेमचन्द के हाथ की कठपुतली मात्र रह जाता है। उसके मुँह की भाषा किसी नायक की अपनी जुबान से उच्चारित न होकर जैसा प्रेमचन्द जी कहते हैं उसी के अनुरूप हिज मास्टर्स वायस के रिकार्ड की आवाज मात्र रह जाती है।''[48]

'सूरदास की वाणी में स्वयं प्रेमचन्द बोल रहे हैं।' सूरदास ही प्रेमचन्द है। ऐसा मानने वालों में दलित आलोचक और गैरदलित आलोचक दोनों हैं लेकिन दोनों की इस मान्यता में अंतर भी है। अमृत राय एवं अन्य गैरलित आलोचकों ने सूरदास के चरित्र में आरोपित देवत्व को प्रेमचन्द के व्यक्तित्व पर आरोपित करके प्रेमचन्द की देव-मूर्ति गढ़ने का प्रयास किया है जबकि अधिकांश दलित आलोचकों ने सूरदास को प्रेमचन्द के हाथों की कठपुतली माना है। डॉ. धर्मवीर ने कायस्थ प्रेमचन्द को

सूरदास चमार के आवरण से बाहर निकालकर कायस्थ प्रेमचन्द के दलित विरोधी संस्कारों पर हमला किया है।

डॉ. धर्मवीर एवं अन्य दलित आलोचकों की मुख्य आपत्ति यही है कि यदि सूरदास चमार जाति से है तो उसे दलित समाज और समस्याओं से काटकर, उसे गाँधी और प्रेमचन्द के विचार, मान्यताओं और संस्कारों को ढोने के लिए बाध्य क्यों किया गया? सूरदास को गाँधी एवं प्रेमचन्द की विचारधारा का बंधुआ क्यों बना दिया? यदि सूरदास की वाणी में गाँधी और प्रेमचन्द को ही बोलना था तो उसे चमार जाति का क्यों बनाया? बेहतर होता सूरदास की जाति कायस्थ अथवा बनिया ही निर्धारित की जाती। इस संदर्भ में डॉ. धर्मवीर की टिप्पणी है– ''रंगभूमि में सूरदास हिन्दुओं का बेगारी ही है। बेगारी की मुसीबत यह होती है कि वह अपने लिए काम नहीं कर सकता बल्कि दूसरे उस से नियाम में अपना काम करवाते है। सूरदास अपनी छुआछूत मिटाने के लिए न लड़े और प्रेमचन्द की आजादी के लिए लड़े कितनी पुरानी बंधुआ मजदूरी है जो कराई गई है।[48]

डॉ. धर्मवीर एवं अन्य कुछ दलित अलोचक प्रेमचन्द के इस बंधुआ सूरदास को अपना नायक मानने को तैयार नहीं हैं। वे तो उसे 'असली चमार' भी नहीं मानते, उनके अनुसार असली चमार साम्राज्यवाद के विरूद्ध लड़ने से पहले वर्णव्यवस्था और जातिवाद के विरूद्ध लड़ता, पहले वह छुआछूत की समस्या मिटाने के लिए मोर्चा संभालता, वह दलित स्वाभिमान और सशक्तिकरण के लिए जान की बाजी लगता। डॉ. धर्मवीर के शब्दों में–"बात बहुत सीधी थी, अस्पृश्यता को मिटाने के लिए चमारों को अंग्रेजों से नहीं लड़ना था बल्कि यह उनकी हिन्दुओं से लड़ाई थी लेकिन प्रेमचंद ने रंगभूमि में जो दिखाया, वह यही दिखाया कि सूरदास को एक अंग्रेज की गोली लगी जिससे से वह मर गया। चमारों को जो गोलियाँ छुआछूत और बलात्कार के रूप में हिन्दुओं की रोज लग रही थीं, प्रेमचंद के लिए वे घटनाएं अहम मुद्दे नहीं बन सकी।"[49] अतः वर्णव्यवस्था और जातिवाद के विरूद्ध लड़ने के बजाय औद्योगिकरण के विरूद्ध खड़ा सूरदास कुछ दलित आलोचकों की, दृष्टि में एक नकली चमार है। प्रेमचन्द ने दलितों को बहलाने–फुसलाने के लिए एक नकली चमार को अपना नायक बनाया। सूरदास की निर्मिति को डॉ. धर्मवीर प्रेमचंद की दलितों के विरूद्ध गहरी साजिश मानते हैं। उनके अनुसार दलितों के नेतृत्व की हड़पने, दलित आन्दोलन में भटकाव पैदा करने और दलित नेताओं को उभरने से रोकने के लिए सूरदास नामक नकली पात्र गढ़ा गया जबकि–''चमारों के महानायक के रूप में स्वामी अछूतानंद देहली पर आ धमके थे, इसलिए प्रेमचन्द ने ज्यादा चतुराई का रास्ता अपनाया। यूँ एक उदारवादी हिन्दू दूसरे सनातनी हिन्दू की सबसे ज्यादा मदद करता है।"[50]

तत्कालीन हिन्दूवादी (ब्राह्मणवादी) स्वामी अछूतानंद के नेतृत्व से कितना घबराये हुए थे और वे स्वामी अछूतानंद के विरूद्ध कितना जहर उगल रहे थे और कैसी–कैसी साजिशें रच रहे थे, इसका विस्तारपूर्वक विवरण देते हुए डॉ. धर्मवीर ने यह प्रश्न उठाया है कि प्रेमचन्द स्वामी अछूतानंद और उनके नेतृत्व से परिचित न हों यह कैसे संभव है–''जब कानपुर के स्वामी अछूतानंद का पंजाब में पण्डित अमीचंद शर्मा जैसे ब्राह्मण लेखक को इतना बड़ा खतरा दिख रहा है तो क्या सीधे कानपुर से संबंध रखने वाले प्रेमचन्द को स्वामी अछूतानंद द्वारा खड़ा किया गया, (हिन्दू धर्म के लिए) इतना बड़ा खतरा सन् 1922–24 में ही नहीं दीख गया था। प्रेमचन्द द्वारा रंगभूमि में सूरदास का चमार पात्र खड़ा करने की वजह से इस प्रश्न का उत्तर हमें निश्चित रूप से हाँ में मिलता है। प्रेमचन्द पंजाब के उस लेखक अमीचंद शर्मा से ज्यादा जागरूक और होशियार हिन्दू थे। पंजाब के ब्राह्मण लेखक ने भंगियों को स्वामी अछूतानंद के आन्दोलन से दूर रहने की सलाह दी है, लेकिन कायस्थ प्रेमचन्द ने खुद चमारों के आन्दोलन को ही गड़बड़ा दिया है।''[51] डॉ. धर्मवीर की इन मान्यताओं को इस बात से भी बल मिलता है कि दलितों के मसीहा कहे जाने वाले प्रेमचन्द गाँधी को दलितों का स्वाभाविक नेता सिद्ध कर रहे थे और डॉ. अंबेडकर एवं स्वामी अछूतानंद सरीखे दलित नेताओं को इग्नोर कर रहे थे। जब इग्नोरेंश की रणनीति काम न आई तो उन्होंने डॉ. अंबेडकर का खुला विरोध भी किया। अर्थात यह बात सौ फीसदी सही है कि सूरदास चमार नामक चरित्र गढ़ने में प्रेमचन्द ने गोलमाल किया है। सूरदास दलित होकर भी दलित नेता कतई नहीं है बल्कि वह ब्राह्मणवाद और सामंतवाद का रक्षक है। डॉ. धर्मवीर की यह स्थापना भी सही लगती है कि प्रेमचन्द ने सूरदास चमार सरीखा चरित्र गढ़कर स्वामी अछूतानंद के विरूद्ध गुरिल्ला युद्ध की नीति अपनाई है। यदि स्वामी अछूतानंद न होते तो प्रेमचन्द को सूरदास चमार नामक पात्र गढ़ने और उसे अपने उपन्यास का नायक बनाने की जरूरत ही न पड़ती। डॉ. धर्मवीर की भाषा में कहें तो प्रेमचन्द स्वामी अछूतानंद को उखाड़कर सूरदास नाम का पौधा लगाने का प्रयास कर रहे थे।

रंगभूमि का नायक सूरदास चमार को बनाया जाना निश्चित रूप से हिन्दी साहित्य में एक ऐतिहासिक घटना है लकिन इस घटना का उद्देश्य दलित आन्दोलन चलाना नहीं है न ही दलित समस्याओं को गंभीरता से लिया गया है। हिन्दी के गैरदलित नामवर आलोचकों ने भी यह बात स्वीकारी है–"रंगभूमि का नायक, दलित जरूर है लेकिन रंगभूमि की मुख्य समस्या दलितोद्धार या दलित मुक्ति नहीं है। रंगभूमि की समस्या राष्ट्रमुक्ति है। ये 1924 में लिखा उपन्यास है और 1925 में छपा था। तब तक हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रोग्राम में दलित कहीं नहीं थे। असहयोग आन्दोलन दलितों का आन्दोलन नहीं था। चौरा–चौरा की घटना दलितों को लेकर नहीं हुई।''[52] प्रश्न यह है कि जब दलितों की समस्या से रंगभूमि

का कोई सरोकार नहीं था और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रोग्राम में भी दलित कहीं नहीं थे तो रंगभूमि के नायक को सूरदास चमार के रूप में क्यों प्रचारित किया? वह 'सूरदास बनिया' अथवा 'सूरदास कायस्थ' भी तो हो सकता था। दरअसल यहाँ नामवर सिंह ने अर्धसत्य बोला है। यह बात ठीक है कि रंगभूमि के लेखक को दलित समस्याओं और दलित मुक्ति की कोई परवाह नहीं लेकिन दलितों के बिना राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता संभव ही नहीं थी। अतः राजनीति में गाँधी दलितों को बहलाने-फुसलाने का काम कर रहे थे और यही काम साहित्य में प्रेमचंद ने किया। प्रेमचन्द के समय में देश की आजादी की लड़ाई का मसला इतना बड़ा ओर पेचीदा था कि उसमें वर्णों की एकता, जातियों की एकता और धर्मों की एकता की जरूरत पड़ गई थी। सूरदास चमार को अपना नायक बनाकर और छुआछूत की समस्या पर पर्दा डालकर प्रेमचन्द ने वर्णों की एकता स्थापित करने का प्रयास किया है ताकि आजादी की लड़ाई में दलितों का इस्तेमाल किया जा सके।

गैरदलित नामवर आलोचकों ने यह तो स्वीकारा है कि दलित समस्याओं और दलित मुक्ति से रंगभूमि का कोई सरोकार नहीं है लेकिन उन्होंने इस रहस्य का खुलासा नहीं किया कि रंगभूमि के लेखक ने दलित समस्याओं पर पर्दा क्यों डाल दिया था। अब अच्छी बात यह हुई कि दलित आलोचना ने सभी प्रकार के छद्म और भ्रम के पर्दों को हटा दिया है। छद्म प्रेमचन्द की ओट में छिपे प्रेमचन्द के वास्तविक रूप को उजागर किया है। दलित आलोचना ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रेमचन्द ने सूरदास चमार को रंगभूमि का नायक क्यों बनाया? यद्यपि डॉ. धर्मवीर का दावा है कि रंगभूमि का नायक सूरदास चमार नहीं बल्कि 'सूरदास कायस्थ है। रंगभूमि के लेखक ने दलित समस्याओं पर पर्दा क्यों डाला? रंगभूमि में औद्योगिकरण का विरोध क्यों किया गया है? रंगभूमि का खलनायक धर्मपरिवर्तित ईसाई (दलित) को क्यों बनाया गया? प्रेमचन्द ने ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था का महिमामण्डन क्यों किया और शहरीकरण का विरोध क्यों किया? प्रेमचन्द ने अपने पात्रों से ईसाई धर्म की निन्दा क्यों कराई? सूरदास सामंतवादी मूल्यों का रक्षक क्यों बन जाता है। सूरदास बड़ी से बड़ी समस्या को दार्शनिक खेल क्यों प्रचारित करता है? प्रेमचन्द ने सूरदास के चरित्र पर गाँधी के व्यक्तित्व का आरोपण क्यों किया? **ऐसे कितने ही क्यों हैं, जिनके उत्तर दलित आलोचना के पास हैं।**

गैरदलितों के दलित लेखन को दलित आलोचना आज संदेह की दृष्टि से देख रही है, यह अकारण नहीं है, इसके पर्याप्त आधार हैं। दलित आलोचना के इस संदेह को पूर्वाग्रह भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह संदेह दलित आलोचना में अतिवाद की संभावनाओं को अवसर देता है। गैरदलितों के दलित लेखन को संदेह की दृष्टि से देखना तो ठीक है लेकिन उसका दहन करना एक अतिवाद है। रंगभूमि

दहन की घटना दलित राजनीति के अतिवाद और हिन्दुवादी राजनीति के अवसरवाद का परिणाम है। दलित आलोचना पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। रंगभूमि दहन की घटना ने प्रेमचन्द के साहित्य की अतिवादी दलित आलोचना को प्रेरित किया। प्रेमचन्द संबंधी डॉ. धर्मवीर की आलोचना कहीं-कहीं उसी अतिवादी दलित आलोचना का भी उदाहरण है।

प्रेमचन्द ने दलित समाज के साथ क्या-क्या विश्वासघात किये इसका खुलासा डॉ. धर्मवीर ने बड़े मनोयोग से और साक्ष्यों के साथ किया है। प्रेमचन्द ने ये विश्वासघात क्यों किए? इस प्रश्न का उत्तर देते समय डॉ. धर्मवीर जब प्रेमचन्द के चिंतन को उनकी नस्ल से जोड़ते हैं तो यह उत्तर अतिवादी दलित आलोचना का उदाहरण बन जाता है। प्रेमचन्द के लेखन पर उनकी जाति और सामाजिक स्थितियों का प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक माना जा सकता है, जैसा कि डॉ. धर्मवीर ने बार-बार दोहराया है-''मेरे लिए यही मुख्य बात है कि प्रेमचन्द कायस्थ थे। भारत के जातीय वातावरण में किसी लेखक की जाति जानने से उसके साहित्य को समझने में काफी मदद मिलती है। इससे मनुष्य के सामाजिक वातावरण और लौकिक सरोकारों का पता चलता है। कोई व्यक्ति शून्य में नहीं रहता-साहित्यकार बिल्कुल नहीं रहता। कोई मनुष्य सार्वभौमिक नहीं है। विश्वनागरिक बनने के लिए भी व्यक्ति को अपने मकान नम्बर और गली का नाम लिखना पड़ता है। इसी भले संदर्भ में कहा जा रहा है प्रेमचन्द कायस्थ थे।''[54]

प्रेमचन्द के साहित्य को प्रभावित करने वाले तत्वों में उनकी जाति 'प्रेमचन्द का कायस्थ होना' भी एक प्रमुख तत्व है, यह निष्कर्ष निराधार नहीं है लेकिन डॉ. धर्मवीर का यह कहना कि उनकी जाति ही प्रमुख तत्व है, अतिवादी आलोचना का उदाहरण है। प्रेमचन्द के चिंतन को उनकी नस्ल से जोड़ देना अतिवादी दलित आलोचना का चरम बिन्दु है। यद्यपि डॉ. धर्मवीर ने प्रेमचन्द को नस्लवादी और रंगभेदी सिद्ध करने के क्रम में रंग और नस्ल का प्रश्न उठाया-"प्रेमचन्द के साहित्य का कई ढंग से अध्ययन किया जाता है, लेकिन उन ढ़ंगों में नस्लों और रंगों की तरफ भी ध्यान दिया जाना चाहिए। उनके साहित्य की विशेषता मात्र जातियों के उल्लेख से संबन्धित नहीं है, बल्कि उन्होंने लोगों को उनके कद, काठी रंग आदि की कसौटियों पर भी परखा है। यदि केवल रंगभेद की बात लें तो, उन्होंने अपने पात्रों को काले, साँवले, गेहुएँ, गोरे और गोरे चिट्टे रंगों में पहचाना है। काले पात्रों की बात शुरू की जाए तो रंगभूमि के सूरदास से ही शुरू की जाए। उसके रंग के बारे में लिखा गया है- वही अंधा है न, काला काला, दुबला पतला? इसके बाद गोदान में सिलिया चमारी के बाप की पहचान इस रूप में दी गई है।"[55]

प्रेमचन्द की नस्लवादी एवं रंगभेदी मानसिकता को एक्सपोज करने के लिए डॉ. धर्मवीर ने प्रेमचन्द के उपन्यासों के पात्रों के परिचय संबंधी पर्याप्त विवरण प्रस्तुत किये हैं और उनकी निजी जिंदगी से भी उदाहरण दिये हैं कि प्रेमचन्द ने अपनी पहली पत्नी को इसलिए त्याग दिया कि उसका रंग काला था। उन्होंने अपनी बेटी के विवाह की प्रमुख शर्त यह रखी कि वर गोरे-चिट्टे रंग का होना चाहिए। डॉ. धर्मवीर ने ऐसे अनेकों उदाहरण दिये हैं, जो प्रेमचन्द को नस्लवादी और रंगभेदी सिद्ध करते हैं। प्रेमचन्द की नस्लवादी एवं रंगभेदी मानसिकता को एक्सपोज करने के क्रम में डॉ. धर्मवीर ने स्वयं भी प्रेमचन्द पर नस्लवादी टिप्पणी की है। प्रेमचन्द के चिंतन को ही उनकी नस्ल से जोड़ दिया कि नीली आँखों वाले प्रेमचन्द ने दलितों के साथ विश्वासघात किया है। नीली आँखों वाली नस्ल विश्वासघाती होती है।

डॉ. धर्मवीर यह भूल गये कि यदि प्रेमचन्द की आँखें नीली न होकर किसी अन्य रंग की होती तो भी हमें उनका साहित्य इसी रूप में प्राप्त होता। उनकी आँखों का रंग बदलने से उनके साहित्य का रंग नहीं बदलता। यदि उनकी जाति और सामाजिक स्थितियाँ बदली हुई होती तो उनके साहित्य का रंग संभवतया बदला जाता। यदि प्रेमचन्द स्वयं ब्राह्मण अथवा दलित होते तो उनका साहित्य हमें किसी अलग तेवर और अन्य रंग में मिलता। अर्थात डॉ. धर्मवीर जब यह कहते हैं कि नीली आँखों वाले प्रेमचन्द ने दलितों के साथ विश्वासघात किया तब वह अतिवादी दलित आलोचना का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रेमचन्द की गोरी चिट्टी चमड़ी और नीली आँखों का सीधा प्रभाव उनके व्यक्तित्व, व्यवहार और निजी जिंदगी पर जरूर पड़ा। वह एक श्रेष्ठताबोध से भर गये और उनमें काले रंग के प्रति एक अलगाव की भावना आ गई। यही कारण है कि उन्होंने अपनी पहली पत्नी को छोड़ दिया क्योंकि उसकी चमड़ी का रंग काला था। उन्होंने अपनी बेटी के विवाह की प्रमुख शर्त यह रखी कि वर की चमड़ी का रंग गोरा चिट्टा हो। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि निजी जिंदगी में काले रंग वालों से अपने तमाम संबंध तोड़ने वाले प्रेमचन्द साहित्य में काली चमड़ी वालों से संबंध स्थापित करते हैं। साहित्य के सौंदर्य शास्त्र के मानदंडों में प्रेमचन्द काले रंग वालों को भी विशेष महत्व देते हैं। गोरी चमड़ी की सुंदर स्त्रियों को सौन्दर्यशास्त्र का केन्द्र बिन्दु बनाने वाले साहित्यकारों पर व्यंग्य करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं-"उसके लिए (संकुचित दृष्टि वाले साहित्यकार के लिए) सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है-उस बच्चोंवाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे होंठों, कपोलों और भौंह में निसन्देह सुन्दरता का वास है-उसके उलझे हुए बालों, पपड़िया पड़े हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ? पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी

सौन्दर्य देखने वाली दृष्टि में विस्तृति आ जाए तो वह देखेगा कि रंगे होठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है।''[56]

प्रेमचन्द के साहित्य में सौन्दर्य शास्त्र के मानदंड जितने व्यापक हैं, उनके निजी जीवन में ये मानदंड उतने ही संकुचित हो जाते हैं। वह एक काली स्त्री को अपने साहित्य में नायिका के पद पर बिठा सकते हैं लेकिन निजी जिंदगी में वही काली स्त्री उन्हें पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं, क्योंकि वह अपनी गोरी चिट्टी चमड़ी और नीली आँखों के श्रेष्ठता बोध से मुक्त नहीं हो पाते। यद्यपि प्रेमचन्द का यह श्रेष्ठताबोध उनके साहित्य में बाधा उत्पन्न नहीं करता तथापि डॉ. धर्मवीर के दावे को यदि एक क्षण के लिए स्वीकार कर लिया जाये कि प्रेमचन्द की गोरी-चिट्टी चमड़ी और नीली आँखों के रंग ने उनके साहित्य को प्रभावित किया है, तब फिर इससे प्रेमचन्द के सौन्दर्यशास्त्र के मानदंड प्रभावित होने चाहिए। 'जो कि नहीं हुए हैं' इसे दलितों के साथ किया गया विश्वासघात क्यों माना जाए? प्रेमचन्द ने दलितों के साथ विश्वासघात जाति और वर्णव्यवस्था के कारण किया था न कि सौन्दर्यशास्त्र के कारण। प्रेमचन्द द्वारा दलितों के साथ किये गये विश्वासघात के लिए उनकी नीली आँखों को देषी क्यों ठहराया जाए? जैसा कि डॉ. धर्मवीर ने ठहराया है-"एक हिन्दी फिल्म कश्मीर की कली की एक पंक्ति इस प्रकार है ये झील सी नीली आँखें, कोई राज है इनमें गहरा। फिल्मी गीतकार ने सही कहा है कि नीली आँखों में कोई गहरा राज छिपा है, लेकिन यदि मैं इस गीत को लिखता तो यही मानकर चलता कि हिन्दुस्तान में नीली आँखों का होना खुद एक गहरा राज है। हिन्दी की एक अन्य फिल्म आवारा में भी नीली आँखों पर गीत गाया गया है। उसी में नीली आँखों को धोखेबाज कहा गया है। गीत की वह पंक्ति इस प्रकार है- दे गई धोखा हमें नीली-नीली आँखें।''[57]

डॉ. धर्मवीर यह नहीं समझ पाये कि 'प्रेमचन्द की नीली आँखों ने एक स्त्री को धोखा दिया था (जैसा कि फिल्म में भी नायक ने नायिका को धोखा दिया) उन्होंने अपनी पत्नी को धोखा दिया था। उनकी नीली आँखें दलित समाज को नहीं ठग सकती थीं। दलित समाज को ठगने वाले तो प्रेमचन्द के वर्णवादी एवं जातिवादी मानसिकता एवं संस्कार थे। प्रेमचन्द की गोरी-चिट्टी चमड़ी और नीली आँखों ने उनके चरित्र में एक अंतर्विरोध जरूर पैदा किया कि अपने साहित्य में साम्राज्यवाद के विरूद्ध हुंकार करने वाले प्रेमचन्द अपनी निजी जिंदगी में साम्राज्यवादियों की ही भाँति रंगभेद और नस्लभेद की मानसिकता ग्रसित थे। अंग्रेज अपनी तुलना में सभी भारतीयों को काला मानते थे वह गेहूँए, साँवले, काले, काले-कलूटे अथवा काले ढिट्ट में अंतर नहीं करते थे और उनकी तुलना कुत्तों से करते थे। उनका स्लोगन था

'डॉग्स एण्ड ब्लैक इंडियन आर नॉट आलाउड'। इसी प्रकार प्रेमचन्द के घर में पत्नी, बहु अथवा दामाद के रूप में काली चमड़ी वाले लोग अलाउड नहीं थें।

इस नस्लभेदी एवं रंगभेदी मानसिकता एवं संस्कृति के लिए अकेले प्रेमचन्द दोषी नहीं हैं। आज पूरे भारतीय समाज की यही मानसिकता है। भारतीय समाज गोरी चमड़ी के मोह से उबर नहीं पाया है। तभी तो गोरा बनाने वाले प्रॉडक्ट्स इतने लंबे समय से मार्केट में जमे हुए हैं और लागत से कई गुना अधिक कमाई कर रहे हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले वैवाहिक विज्ञापन तो इस नस्लभेद और रंगभेद के दस्तावेज हैं। नीली आँखों का मामला थोड़ा दूसरा है, यह मामला अनुवंशिकी का है। यह बात ठीक है कि नीली आँखों के मामले में कई सामाजिक रूढ़ियाँ एवं काव्य रूढ़ियाँ प्रचलित हैं। इन रूढ़ियों में नीली आँखों को विश्वासघात का प्रतीक बताने वाली मानसिकता निन्दनीय है। अत: डॉ. धर्मवीर का यह निष्कर्ष तो स्वीकार किया जा सकता है कि 'कायस्थ प्रेमचन्द' ने दलितों के साथ विश्वासघात किया लेकिन यह कहना कि नीली आँखों वाले प्रेमचन्द ने दलितों के साथ विश्वासघात किया एक नस्लभेदी एवं रंगभेदी टिप्पणी है। यह टिप्पणी इस बात का प्रमाण है कि प्रेमचन्द के रंगभेद और नस्लभेद की आलोचना करने वाले डॉ. धर्मवीर भी इस रंगभेदी और नस्लभेदी मानसिकता के प्रभाव में आ गये यदि वे इस मानसिकता से मुक्त हो गये होते तो यह जरूर समझते कि प्रेमचन्द की आँखों का रंग बदलने से साहित्य का रंग नहीं बदलता। प्रेमचन्द की आँखें अगर काली होती, तब भी उनका साहित्य हमें इसी रूप में यथावत मिलता।

संदर्भ-ग्रंथ :

1. अरूणेश नीरन, प्रेमचंद (संपादक-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी) पृ. 127
2. अजय तिवारी, प्रेमचन्द, रंगभूमि और अस्मिता विमर्श, (प्रेमचन्द की रंगभूमि एक विवाद एक संवाद (संपादक-तेजसिंह), पृ. 77
3. डॉ. धर्मवीर, प्रेमचंद की नीली आँखें, पृ. 52
4. कँवल भारती, धर्मवीर का फासिस्ट चिंतन, पृ. 30
5. डॉ. शैलेश जैदी, प्रेमचन्द की उपन्यास यात्रा: नवमूल्यांकन, पृ. 226-227
6. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ. 422
7. वही, पृ. 422
8. शैलेश जैदी, प्रेमचन्द की उपन्यासयात्रा, नवमूल्यांकन, पृ.22
9. राजेश कुमार, दलित कथाकारों की कहानियों में स्त्री (लघु शोध प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, वर्ष-2004), पृ. 1
10. अजय तिवारी, प्रेमचन्द की रंगभूमि एक विवाद एक संवाद (संपादक-तेज सिंह), पृ. 93-94
11. कृष्णदत्त पालीवाल, प्रेमचन्द की रंगभूमि एक विवाद एक संवाद (संपादक तेज सिंह, पृ. 66)
12. अमृत राय, कलम का सिपाही, पृ. 401
13. अमृत राय, कलम का सिपाही, पृ.528

14. अमृत राय, कलम का सिपाही, पृ. 530
15. मैनेजर पाण्डेय, प्रेमचन्द की रंगभूमि। एक विवाद एक संवाद (संपादक-तेज सिंह), पृ. 49-50
16. ईश गंगानिया, प्रेमचन्द की रंगभूमि एक विवाद एक संवाद (तेज सिंह), पृ. 101
17. नामवर सिंह, प्रेमचन्द और भारतीय समाज, पृ. 21
18. अजय तिवारी, कल के लिए, दिसम्बर 1998, पृ. 17
19. कांतिमोहन, प्रेमचंद और अछूत समस्या, पृ. 171
20. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ. 7
21. प्रेमचन्द, प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, पृ. 25, भारतीय ग्रंथ, नई दिल्ली 2010
22. वही, पृ. 32
23. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ. 338
24. निर्मल वर्मा, ढलान से उतरते हुए, पृ. 25-26
25. डॉ. धर्मवीर, प्रेमचंद की नीली आँखें, पृ. 96-98
27. प्रेमचन्द, प्रेमचन्द स्वनावली-8, पृ. 182 / विविध प्रसंग भाग-2
28. प्रेमचन्द, प्रेमचन्द के श्रेष्ठ निबन्ध सांपदक-सत्यप्रकाश मिश्र, पृ. 4
29. प्रेमचंद, रंगभूमि, पृ. 442
30. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ. 115
31. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ.11
32. वही, पृ.14
33. प्रेमचन्द, प्रेमचन्द रचनावली-8, पृ. 182 विविध प्रसंग भाग-2
34. डॉ. राजपाल सिंह राज, स्वामी अछूतानंद हरिहर, पृ.33
35. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ 35
36. वही, पृ. 29
37. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ.63
38. वही, पृ. 71
39. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ. 25
40. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ. 319
41. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ. 442
42. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृ. 34
43. डॉ. धर्मवीर, प्रेमचन्द की नीली आँखे, पृ. 57
45. मूलचंद सोनकर, वाङ्मय दलित विशेषांक सं. डॉ. एम फीरोज अहमद, पृ. 57
46. अमृत राय, कलम का सिपाही, पृ. 327
47. विजयदान देथा, प्रेमचन्द की बस्ती, पृ. 166
48. डॉ. धर्मवीर, प्रेमचंद की नीली आँखें, पृ. 135
49. वही, पृ. 133
50. डॉ. धर्मवीर प्रेमचंद की नीली आँखें, पृ. 18
51. वही, पृ. 84-85
54. डॉ. धर्मवीर, प्रेमचन्द सामन्त का मुन्शी, पृ. 13
55. डॉ. धर्मवीर, प्रेमचन्द की नीली आँखें, पृ. 488
56. प्रेमचन्द, साहित्य का उद्देश्य, पृ. 21, (हंस प्रकाशन, 1997)
57. डॉ. धर्मवीर, प्रेमचन्द की नीली आँखें, पृ. 500

बिदेसिया : पाठ-पुनर्पाठ

डॉ. मुन्ना कुमार पाण्डेय
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

परतंत्र भारत में औपनिवेशिक सत्ता के दमन चक्र और भोजपुरी अंचल में कई तरह के अभावों के कारण पलायन एक लगातार घट रही घटना थी, जिसने अपने समय के सर्जकों और रचनाकारों को प्रभावित किया। इसलिए ''भिखारी ठाकुर की 'बिदेसिया' लोकधर्मी नाट्य शैली से पूर्व 'सुंदर सुभूमि भईया भारत के देसवा से, मोर प्रान बसे हिम खोह रे बटोहिया', रघुवीर नारायण के राष्ट्रगीत 'बटोहिया' की रचना के बाद इस धुन और टेक पर 'फिरंगिया', 'सांवरिया', 'बनिजिया', 'सिपहिया', 'पुरुबवा' जैसे गीतों की सर्जना धड़ाधड़ हुई। ध्यातव्य हो कि इन धुनों का स्वर पीड़ा का है। बिदेसिया का कथानक भी पीड़ा से पैदा हुआ है।''[1] भोजपुरी के सामाजिक जीवन में पसरे इस पीड़ा और उद्वेग से ही 'बिदेसिया' की रचना संभव हुई। यद्यपि एक साक्षात्कार में भिखारी ठाकुर यह स्वीकार कर चुके हैं कि बिदेसिया से पहले उन्होंने बिदेसी की बात अथवा परदेसिया के बारे में सुना था।[2] रंगचिंतक और नाटककार हृषिकेश सुलभ लिखते हैं ''अपने सर्वाधिक लोकप्रिय नाटक 'बिदेसिया' को रचते हुए वे कलात्मकता के साथ जीवन की व्याख्या करते हैं और अपने गीतों में विविध छवियों वाले जीवन-यथार्थ को पिरोते हैं। उनकी कलात्मकता उधार ली हुई या गढ़ी हुई नहीं है। इसे वे अपने देशज और पारंपरिक यथार्थ के गर्भ में सिरजते हैं। युगों से चली आ रही विस्थापन की समस्या और प्रवास की पीड़ा को वे परंपरा से नाभिनालबद्ध करते है। उनका सिरजा यह दु:खकाल और स्थान का अतिक्रमण करते हुए हमारी आत्माओं के अतल में पसर जाता है।''[3]

भिखारी ठाकुर का 'बिदेसिया' केवल एक नाटक अथवा नाटयशैली भर नहीं है। अपने लिखे और खेले जाने के समय से ही बिदेसिया भोजपुरी अंचल के गबरू जवानों के पलायन और उनकी ब्याहता स्त्रियों के दर्द का प्रामाणिक दस्तावेज बन चुका था। यह नाटक कीर्त्तनशैली में रामकथा-प्रसंग तथा संस्कृत में गुरु-वंदना से शुरू होता है। इसके बाद की भाषा हिंदी है और अंतत: भोजपुरी में नाटक चलता है। ''दिलचस्प यह है कि संस्कृत में यह गुरुवंदना श्रेण्यवादी संस्कृत परंपरा से न आकर भक्ति परंपरा और सूफी रहस्यवाद से आई है, जिसे सांस्कृतिक अध्ययन में महान परंपरा के रूप में निर्दिष्ट किया जाता है।''[4] इसका कथानक बस इतना है कि

गाँव का एक युवक अपने दोस्त से कलकत्ता की बड़ाई सुनकर स्वयं कलकत्ता जाना चाहता है, पर उसकी नवब्याहता पत्नी आशंकित हो मना कर देती है और न जाने का अनुरोध भी करती है। लेकिन पति चुपके से बहाना बनाकर कलकत्ता निकल जाता है। कलकत्ते में दिन-रात मेहनत करने के बाद जब वह शाम को थका-हारा बाड़ी लौटता है, तो वहाँ उसका परिचय एक नवयुवती से हो जाता है। ''एकाकी युवक की कामनाएँ प्रबल होने लगती हैं, युवती भी दिनों-दिन उसके पास आती जाती है। उभय पक्ष की आवश्यकता तथा परिस्थिति की नाजुकता के कारण दोनों पति-पत्नी के रूप में रहने लगते हैं।''[5] उधर नायक बिदेसी की पत्नी गाँव में वियोग में रोती-बिलखती रहती है। उसकी चिंता यह भी है कि परदेस में पति की क्या दशा होगी, वह कैसे रहता होगा। लेकिन उसको उम्मीद है कि एक दिन उसका पति अवश्य लौटेगा। इसी बीच एक अधेड़ उम्र का व्यक्ति 'बटोही' कमाने के लिए कलकत्ता की ओर जा रहा था, बिदेसी की पत्नी प्यारी सुंदरी को जब यह बात पता चलती है तो वह उससे अपने पति तक संदेश पहुँचाने की मिन्नत करती है। बटोही प्यारी सुंदरी की यह दशा देख दयार्द्र हो जाता है और सुंदरी के बताये नैन-नक्श जैसे युवक को ढूँढकर भेजने का वचन देता है। कलकत्ता पहुँचने पर उसे बिदेसी मिल जाता है। वह बिदेसी से उसकी पत्नी की कारुणिक कथा कहता है, जिसे सुनकर बिदेसी को अपने घर और पत्नी की याद आने लगती है और वह वापिस लौटने को उद्यत हो जाता है।

उधर गाँव में एक देवर बना मनचला युवक सुंदरी के सतीत्व पर हाथ डालने की चेष्टा करता है पर पड़ोसन के आग माँगने आ जाने की वजह से उसका पातिव्रत्य बच जाता है। कलकत्ते में साथ रह रही युवती जिसे भिखारी ठाकुर ने 'रंडी' व रखेलिन कहा है, बिदेसी के साथ गाँव जाने का प्रतिवाद करती है। यह सारा दृश्य अद्‌भुत नाटकीय क्रिया व्यापारों से भरा हुआ है। बटोही के नानाविध समझाने के बाद बिदेसी गाँव की ओर चलता है पर रास्ते में ही साहूकार के गुंडे बिदेसी से बकाये की बसूली में सब-कुछ लूट लेते हैं। उधर पीछे-पीछे अपने दोनों को बच्चों को लेकर वह कलकतिया पत्नी भी साजो-सामान के साथ बिदेसी के पीछे चलती है पर रास्ते में डाकू उससे सबकुछ लूट लेते हैं। किसी भाँति वह भी बच्चों सहित पूछते-पूछते बिदेसी के गाँव पहुँचती है और सभी मिलजुलकर रहने लगते हैं।

बिदेसिया की कहानी ऊपर से जितनी सरल और सहज दिखती है, दरअसल उतनी है नहीं। इसमें आंतरिक प्रवसन की पीड़ा ही नहीं छुपी बल्कि भोजपुरी अंचल में व्याप्त शोषण और अभाव की बहुस्तरीय परतों का बयान भी दर्ज़ है। इसलिए ''बिदेसिया को औपनिवेशिक विस्तार से पैदा हुई हलचलों के संदर्भ में परखना

होगा। बिदेसिया पूरी तरह से पारंपरिक या लोकसंस्कृति का अंग नहीं है, वह भारत के औपनिवेशिक दौर की ऐसी रचना है, जब बाजार के लिए उत्पादन शुरू ही हुआ था। इसीलिए उसके अभ्युदय के साथ एक नया सांस्कृतिक धरातल जन्म लेता है।''[6] सूत्रधार नाटक शुरू होने से पहले बताता है कि इस तमाशे में चार पात्र होंगे, बिदेसी, प्यारी सुंदरी, बटोही, रखेलिन अथवा बिदेसी ब्रह्म, प्यारी सुंदरी जीव, बटोही धर्म, रखेलिन माया[7] चंद्रशेखर ने इसे व्याख्यापित करते हुए लिखा है कि 'रूपक की यह पद्धति सूफी परंपरा से आई है।[8] लेकिन बिदेसिया रहस्यात्मक व्याख्या से परे कहीं अधिक भोजपुरी समाज में व्याप्त कड़वी सच्चाई को सामने ले आता है। इस पूरे सचबयानी में स्त्री जीवन के ही नहीं बल्कि उसके समय और समाज सामाजिक-आर्थिक स्थिति का भी कच्चा-चिट्ठा मौजूद है। इन सवालों से टकराए बिना बिदेसिया का अर्थ नहीं खुलता। ये सवाल कई स्तरों पर मौजूद हैं, कहीं यह अकेली विवाहिता के सामने शोषित होने से बचने की लड़ाई है तो कहीं 'उढरिया' विशेषण से बाहर आने की पुरजोर छटपटाहट, अर्थतंत्र के कालुष्य और प्रवासी जीवन की वेदना भी इसमें अंतर्निहित है। चंद्रशेखर ने लिखा है-''बिदेसिया की विशेषताएँ ऐसी हैं कि अगर हम लोकप्रिय संस्कृति का रूप कह सकते हैं तो इसी अर्थ में कि एक तरफ तो यह सामूहिक मनोवृत्ति थी, लेकिन इसकी रचना समाज के एक विशेष तबके द्वारा विशेष सांस्कृतिक रूपाकार में हुई। बीसवीं सदी के शुरूआती समय में सारण में अवस्थित बिदेसिया समूचे भोजपुरी क्षेत्र में फैला।''[9]

इस नाटक के विश्लेषण के क्रम में हमें सबसे पहले पुरुष के उस चरित्र को भी देखने की जरुरत है, जहाँ वह हमेशा एक संदिग्ध परिस्थिति को पैदा करता है।'' ''बंद खिड़कियाँ-दरवाजों के भीतर भी स्त्री स्वयं को कभी सुरक्षित नहीं समझती क्योंकि उसका यह घर पुरुष की अपरिचित दुनिया से घिरा है।''[10] पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में स्त्री महज एक 'ऑब्जेक्ट' बनाकर ही देखी जाती रही है। रीतिकालीन काव्य-परंपरा में तो इस तरह के कई उदाहरण मिल जायेंगे, जहाँ स्त्रियाँ एक वस्तु से अधिक कुछ नहीं दिखती। अपने समय-समाज में घर की देहरी के भीतर व्याप्त जिस खतरे की ओर प्रसिद्ध कवि बिहारी ध्यान दिलाते हैं-

''कहति न देवर की कुबत, सुक ज्यों सूकति जाति।।''[11]

वह भिखारी ठाकुर की आँखों से भी छुपा नहीं था। पति के धोखे से कलकत्ता चले जाने के बाद पीड़ा से गुजरती प्यारी सुंदरी को उसी का देवर बना मनचला पड़ोसी तरह-तरह के प्रलोभन देता है कि-

''भउजी तूँ जइसन अलबेली कटीली बाड़ू,
तइसन हम तन के मस्ताना तइयारी हई।

जइसे तूँ चाह करबू तन-मन से हमरा के,
तइसे हम धन-जन से सबसे तुम्हारी हई।''[12]

लेकिन, परंपरा से भर दिए गए भाव कि पति-पत्नी का संबंध सात जन्मों का है और विशेषत: हिन्दू संस्कृति में बेटियों के भीतर भरे गए इस भाव से परे भिखारी ठाकुर की नायिका भी नहीं है, पति की दगाबाजी के बावजूद उसके सामने यह बड़ा सांस्कृतिक सवाल है कि-

''प्यारी के मन लागल बाटे, जहँवाँ बाड़न राम।
माड़ो मे सतबंध[13] **भइल बा, कहत 'भिखारी' हजाम॥''**

लेकिन पुरुष इस तरह की भावनात्मक बातों की गहराई कहाँ जानता है। भिखारी ठाकुर का देवर, बिहारी के देवर से कहीं अधिक दुष्ट है। वह अपनी दाल गलती न देखकर तिलमिला जाता है-

''भउजी मान कहल हमारी। नाहीं त करब तुरत बरियारी॥''[14]

देखने वाली बात है कि बिदेसिया के मार्फत जिस तरह की सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक सच्चाईयों की ओर भिखारी ठाकुर का इशारा है, वह आज भी उतनी ही शिद्दत से भोजपुरी अंचल में व्याप्त है। भिखारी ठाकुर आधुनिक स्त्री विमर्श के उस सवाल 'Man is the subject of desire and Women is the object of desire' को अपने साहित्य और कलाकर्म में उठा रहे हैं, जब मार्क्सवादी स्त्रीवाद आकार ही ले रहा था और रेडिकल स्त्रीवाद की जमीन तैयार भी नहीं हुई थी। भिखारी ठाकुर भी यह जानते थे कि ''पुरुष के बनाये सत्यों पर स्त्री विश्वास नहीं करती''[15] यह बात नाटक में दो जगहों पर साबित होती है, पहला, जब पति 'बिदेसी' कलकत्ता जाने की बात कहते हुए थोड़े दिनों मे लौट आने की बात पत्नी को कहता है, तो पत्नी को भरोसा नहीं होता। पत्नी का संशय अपनी जगह है और रंडी रखेलिन का अविश्वास भी और दोनों के संशय और अविश्वास अपनी-अपनी जगह सच से मिलते हैं, रंडी रखेलिन कहती है-

''कहाँ गये मोर खेलवना छोड़ि के?
पियवा पिरितिया काहें बिसार दिया नान्हें[16] **से जोर के?''**[17]

यहाँ आकर बिदेसिया का 'बारहमासा' और वियोग वर्णन सूफी मसनवियों के काव्य के समकक्ष खड़ा हो जाता है। इसी कड़ी में हिंदी साहित्य के आदिकालीन कवि अब्दुर्रहमान रचित 'संदेश रासक' के तृतीय: प्रक्रम: में ऋतु वर्ण भी प्रसिद्ध है।

''णिवगिम्हागमि पहिय णाहु जं पवसियउ,[18]
करवि करन्जुलि सुह समूह मह णिवसियउ।[19] **॥ 3/130 ॥**

यह 'संदेश रासक' की नायिका का पथिक से कथन है- ''हे पथिक ! नवग्रीष्म के आगमन पर नाथ जब प्रवासी हुए तो मेरा सुख समूह भी करान्जली (प्रणाम) भी करके चला गया।''[19]

भिखारी ठाकुर ने यह बारहमासा वर्णन लिखकर अपनी नायिका प्यारी सुंदरी की विरह वेदना को जायसी के नागमती वियोग खंड के समक्ष खड़ा कर दिया हैं पर तमाम तुलनाओं के बावजूद यह मानने में तनिक हिचक नहीं होनी चाहिए कि भिखारी ठाकुर लौकिक धरातल पर अपनी रचना का कथा-निर्वहन कर रह थे। बिदेसिया की कथा और उसके कवित्त में लोकव्याप्त गीति कथा के अंश अवश्य हैं, क्योंकि यह लोकसाहित्य की महती विशेषता है कि वह गद्य में भी कवित्त होता है और उसके कवित्त में भी गद्यात्मकता। लेकिन बिदेसिया की सच्चाई उसका आर्थिक और सांस्कृतिक फेनोमिना होने के साथ-साथ उसके सामाजिक स्थितियों से अधिक जुड़ती है। बिदेसिया सम्पूर्ण रचना है। जहाँ पारंपरिक रंग-सूत्र हैं, वहीं स्त्री चेतना का पक्ष भी और पलायन करते गिरमिटियों की जीवनदशा की सूचना भी। इसलिए बिदेसिया में जब भिखारी ठाकुर प्यारी सुंदरी के मुँह से उसके पति के लिए इसका बयान करा रहे हैं, तब वह सीधे-सीधे गिरमिटियों, भोजपुरिये और प्रवासियों की कथा ही कहते दिखते हैं-

''करिया ना गोर बाटे, लामा[20] नाही हउवन नाटे,
मझिला जवान शाम सुंदर बटोहिया।
घुठी[21] प ले धोती कोर, नकिया सुगा के ठोर[22],
सिर पर टोपी, छाती चाकर[23] बटोहिया।''

जब तोताराम सनाढय, अभिमन्यु अनत ब्रिज बी. लाल आदि गिरमिटियों की जो रुपरेखा अथवा स्केच अपने साहित्य में बनाते हैं, वह इसी तरह की है। गेंहुए रंग के वर्ण वाले नौजवान और मध्यवय के पुरुष, घुटने तक धोती बाँधे, यह पूरा हुलिया पूरब गए भोजपुरिया श्रमिकों की है, जो किसान से मजदूर बने हुए थे और प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में बड़ी संख्या में बर्मा, रंगून तक निकल गए थे और आज भी निकल रहे हैं। बदला है तो बस हुलिया, स्थितियाँ नहीं। एक बड़ा सवाल और उन स्त्रियों से भी जुड़ता है, जो भिखारी ठाकुर के यहाँ 'रंडी रखेलिन' के रूप में आई है। ऐसी औरतों को 'उढरिया' कहा जाता था। जब भोजपुरिये कमाने के लिए बाहर जाते थे, तब इन औरतों के साथ उनका संबंध बन जाता था। इन औरतों से इन मजदूरों के संबंध से बाल-बच्चे भी पैदा हो जाते थे। यह सहज रूप में हो जाता था। संजीव ने सूत्रधार में इसका एक चित्र खींचते हुए लिखा है-

''देसवाली आदमी जो भी मिला, परदेशी मिला, नई-नई ब्याहता पत्नी को छोड़कर पैसा कमाने के लिए आया हुआ। जैसे-तैसे जिंदगी जीते हुए, नाच, तमाशा,

बतकही में मन को भुलाए हुए और बतकही भी क्या... गाँव-जवार, पत्नी, माँ-बाप बच्चों की यादें, सीने की धुकधुकी में हर पल बजता हुआ गाँव! लेकिन देह का भी अपना तकाजा है और जब बाबूलाल के लौंडे या पतुरिया आग भड़का चुकी हो-सुलगते तन-मन में जल कर बर-बुता जाने की चाहत का एक कोना रंडी!''[24] लेकिन वर्षों साथ-साथ रहने के बावजूद अगर ये प्रवासी कभी अपने 'मुलुक' लौटते भी थे, तो इन औरतों को साथ ले आने का साहस उनमें नहीं होता था। तोताराम सनाढय ने 'उढरिया' औरतों को धोखा देकर लौट आने वाले प्रवासी श्रमिकों के बारे में लिखा कि फीजी से वापस लौटकर आने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग देश में आकर यह विचार करते हैं कि फीजी की विवाहित स्त्री को यदि घर ले जायेंगे तो समाज के अनुसार घर में रहने पावेंगे? इस विचार से धोखा देकर फीजी की स्त्री को छोड़कर भाग जाते हैं और अपने गाँव-घर का झूठा पता फीजी की स्त्रियों को बता देते हैं, जिससे वे स्त्रियाँ उनको ढूँढ भी नहीं सकती।[25] बिदेसी रखेलिन के साथ ऐसी ही धोखेबाजी में रखता है पर वह निवेदन करती है कि मेरी बांह पकड़ मेरी इज्जत बहाल करो। वह उढ़री पीड़ा को समझती है। वह जानती है कि अब तक वह पत्नी सरीखी थी, लेकिन पति के चले जाने बाद वह 'उढ़रिया' कहलाने लगेगी और वह इस लांछन को नहीं लेना चाहती इसलिए समझौता करने को भी तैयार दिखती है। भारतीय साहित्य में संभवत: भिखारी ठाकुर ने ही पहली बार किसी 'उढरिया' औरत को बाल-बच्चों समेत परिवार में जगह देने का आदर्श उपस्थित किया है। वह स्त्री होने की पीड़ा समझते हैं। इस तरह के आदर्श को साहित्य में जगह देने का यह पुनीत कार्य पारंपरिक हिंदू धर्म के नेम-टेम को मानने वाला व्यक्ति करता है। जब हम बिदेसिया के पाठ का सांस्कृतिक अध्ययन करते हैं, तब उसका एक पक्ष इन औरतों की ओर भी जाता है, जहाँ समाज इन्हें हाशिए पर रखता है पर इनके बिना उनका 'काम' भी नहीं चलता। हम जानते ही हैं कि कलकत्ता में वेश्यावृत्ति की खबरें आम हैं और 'सोनागाछी' एक अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त देहमंडी है।

अंग्रेजों ने जब कलकत्ते में कंपनी स्थापित करनी शुरू की थी, तब वह अकेले ही थे, देह की अनिवार्य जरुरत ने वेश्याओं की तलाश की और इसके लिए एक जगह ही बना दी गयी-सोनागाछी। लेकिन कालांतर में इन औरतों को भी एक परिवार जैसे सामाजिक मान्यता प्राप्त संस्था या बंधन की भी जरुरत थी। भोजपुर अंचल से हुए प्रवसन ने भोले-भाले श्रमिकों को इधर भेजा और इन औरतों का संबंध इन भोजपुरी बिदेसियों से हुआ और उढरिया का अस्तित्व सामने आया। मेरा यह कहने का अभीष्ट यह बिल्कुल नहीं है कि ये औरतें इन पुरुषों को फँसा लेती थी। यह अनिवार्य मानसिक/शारीरिक/सामाजिक जरुरत के तौर पर दोनों के सामने

थी। यह एक के लिए देह तो दूसरे के लिए सामाजिक संरक्षण का प्रश्न था और अंततः दोनों मिलकर परिवार हो जाते थे। देस से बाहर परदेस में बन गए 'घर-परिवार' ने इन 'बिदेसियों' को वापिस लौटने न दिया। बिदेसिया और भिखारी ठाकुर के दूसरे नाटकों में ऐसे कई उदाहरण हैं, जब धार्मिक और सांसारिक विभाजन की तस्वीर धुंधली पड़ जाती है। पूरे नाटक में ऐसा लगता है कि साधारण परंपरा और विशिष्ट परंपरा के बीच वाद-संवाद का एक दौर चल रहा है। दूसरे शब्दों में कहें तो, लोकप्रिय परंपरा और तथाकथित महान परंपरा के मध्य कोई लड़ाई चल रही है। भोजपुरिया निम्न अथवा अधीनस्थ वर्ग के जीवन में जब उनका सामना त्रिकोणीय प्रेम-संबंधों से होता है और नाटक में यह स्थिति आती है, तब इस समस्या के नैतिक समाधान की पैरवी के बजाय यह दर्शकों को एक ऐसे समाधान की ओर ले जाता है, जो पूरी तरह से सांसारिक हो। भिखारी ठाकुर की रचनाओं को बारीकी से देखें तो उनके भीतर रामचरितमानस का आदर्श भी बैठा हुआ है, और यहाँ आकर वह आदर्श वह इनको धर्म की रामराजी स्थिति की कल्पना से परे नहीं ले जा पाता और शायद यही वजह है कि तमाम विरोधाभासों के बावजूद भी वह मानवीय रह पाता है। लेकिन इसके पहले हमें भोजपुरी अंचल और औरतों में 'पूरब' की लोकप्रसिद्ध छवि को भी देखना होगा। दरअसल, 'पूरब' देस, बंगाल और असम की औरतें, भोजपुरी औरतों के लिए जादूगरनियों की तरह थीं, जो उनके पतियों को 'भेड़ा[26]' बनाकर रख लेती थी। 'पूरब' का प्रतीक एक आशंका की तरह भोजपुरिया औरतों के लिए रहा है बिदेसी की पत्नी इसी आशंका के कारण कहती है-

> **''पिया मोर मति जा हो पुरुबवा।**
> **पुरुब देस में टोना बेसी बा, पानी बहुत कमजोर। पिया मोर...**
> **सुनत बानी आँख पानी देत बा, सारी भइल सरबोर। पियो मोर...''**[27]

बिदेसिया में वर्णित पूरब देस, प्रवसन, श्रमिक संस्कृति के विभिन्न छवियों के कई दृश्य उभरते हैं। यह दृश्य वैसा ही है। बिदेसिया परंपरा में मानवीय रिश्तों की तमाम जटिलताएँ ही वह चीज है, जो इसे तरोताजा और अद्यतन बनाए रखती है।

बिदेसिया को देखते-सुनते यह बात भी बार-बार मस्तिष्क में आती है कि पलायन इसके केन्द्र में है और पलायन के केन्द्र में अभाव, शोषण आधारित समाज-व्यवस्था पर कलकत्ता यहाँ मात्र शहर नहीं है, बल्कि वह एक उम्मीद है, जहाँ जाकर उनकी स्थिति सुधरेगी। लेकिन शहर में शोषण का दूसरा पहलू है। यह देखना बेहद महत्वपूर्ण है कि सभी प्रवासी भोजपुरिये मजदूर असंगठित थे। ऐसे में उनका शोषण आसान था। यह बाहर से मजदूर को कैसे अपनी गिरफ्त में लेता था, इसे नाटक में बिदेसी के गाँव लौटने के दृश्य में बाड़ी वाले द्वारा सब कुछ ले लिए

या साफ कहें तो उससे सबकुछ छीन लिए जाने के प्रसंग में समझ सकते हैं। इतिहासकार दीपेश चक्रवर्ती ने इस स्थिति का बंगाल के श्रम सूचना अधिकारी की रिपोर्ट के हवाले से उद्धृत किया है–

''सरदार उसका किराया और सस्ते खाने–पीने के लिए थोड़े–पैसे देता है... वहीं उसे कुछ और पैसे भी इसलिए पेशगी देता है कि हो सकता है उसे फौरन काम न मिल पाए। वह उसे किसी क्वार्टर–विशेष में रहने और किसी खास दुकान से चावल खरीदने की हिदायत करता है। जब वह दिन आता है जब कोई जगह खाली हुई हो तो सरदार उससे कहता है: 'मिल की किताब में तुम्हारी तनख्वाह बारह रुपये महीना है, लेकिन मैंने तुम पर कुछ खर्च भी किया है... तुम्हारे पास मुझे देने के लिए एकमुश्त रकम तो है नहीं, इसलिए तुम्हें मुझे दो रुपये माहवार देने होंगे, जब तक तुम काम पर लगे हो। अगर तुमने ऐसा न किया तो तुम्हारी नौकरी का मैं जिम्मेदार नहीं.... धीरे–धीरे उसे मालूम हो जाता है कि जिस मकान में वह अन्य मजदूरों के साथ रहता है और जिसका वे सभी किराया देते हैं वह सरदार का ही है और जिस दुकान से वह चावल खरीदता है उसका मालिक भी वही सरदार है।''[28] भिखारी ठाकुर ने यह तंत्र देखा हुआ था और इसमें लपटाये मजदूरों को भी। बिदेसियों के गाँव न आ सकने के पीछे केवल रंडी या रखेलिन ही एकमात्र कारण नहीं थी। यह सरदारी प्रथा, जिसे पूँजीवादी ताकतों ने बना रखा था वह भी बड़ा कारण था।

इन मजदूरों से तो दस्तूरी वसूली ही जाती थी, छुट्टी पर जाने के लिए भी रकम ली जाती थी। इसी लेख में दीपेश चक्रवर्ती ने अट्ठाईस जूट मिल मजदूरों के एक पत्र का हवाला दिया है, जिसमें इन मजदूरों ने एक वकील को 1906 में लिखते हुए बताया है कि ''हमें छुट्टी के लिए साहब से अनुमति लेनी पड़ती है। लेकिन छुट्टी पर जाते समय हमें बाबू और सरदार को घूस देनी पड़ती है।... अगर हम उन्हें रिश्वत न दें तो वे हम पर ठीक ढंग से काम न करने का झूठा आरोप लगाकर साहब से हम पर जुर्माना लगवा देते हैं या नौकरी से निकलवा देते हैं।''[29] सरदार से पिट जाने का भय भी हमेशा मजदूरों को लगा रहता था। टीटागढ़ जूटमिल की एक बिहारी मजदूरनी बबुनिया का भी जिक्र इतिहासकार ने किया है जिसे अपनी नौकरी से चार रुपये बख्शीश में सरदार को देने पड़े थे, जिसने उसे मिल में लगवाया था।[30] अभी इसमें सरदार और उसके लोगों द्वारा किये जाने वाले शारीरिक शोषण का केवल अंदाजा लगाया जा सकता है। भिखारी ठाकुर को इस बात का अंदाजा ही नहीं बल्कि पूरा ज्ञान था, इसलिए जब वह अपना नाटक लिखते हैं, तो बिदेसी के साथ–साथ रखेलिन के भी सभी कुछ छीन लिए जाने की कहानी भी कहते हैं। रंडी का अपने पति को वापिस न भेजे जाने की जिद के पीछे उसके पहले के उपेक्षित जीवन और बिदेसी के साथ बनाए पूरे घर के बाद बिदेसी के बिना आने वाले आसन्न खतरे की शंका भी है। इसलिए वह भी पति के पीछे–पीछे लौटती है।

सारतः बिदेसिया को उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के भीतर एक खास तरह के सांस्कृतिक-सामाजिक कारण रहे थे, बल्कि राजनीतिक कारण भी। नए सांस्कृतिक-आर्थिक मोड़ जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। चंद्रशेखर इसे 'सांस्कृतिक राजनीति'[31] की संज्ञा देते हैं। आज के संदर्भ में भी देखें तो ''अपना समाज इन दिनों 'सांस्कृतिक राजनीति' के दौर में है।''[32] धनञ्जय सिंह बिदेसिया को एक सांस्कृतिक पदबंध बताते हैं और गिरमिटिया, कलकतिया को आर्थिक।[33] अतः 'पारंपरिक अर्थों में बिदेसिया को राजनीति का रूप नहीं दिया जा सकता लेकिन इतना अवश्य है कि परंपरागत अर्थों में 'बिदेसिया' को लोकप्रिय संस्कृति की एक प्रतिनिधि रचना मानी जा सकता है, जिसके परिस्थितिजन्य कुछ राजनीतिक-सामाजिक अर्थ भी निकलते हैं। इसलिए इसे केवल प्रवास की परिघटना के रूप में व्याख्यायित करना संभव नहीं है।

संदर्भ सूची

1. सिंह, धनञ्जय, लोकधर्मी नाट्य परंपरा और भिखारी ठाकुर का नाट्य साहित्य, पीएच.डी. (2008), दिल्ली विश्वविद्यालय, अप्रकाशित, पृ. 119.
2. देखिए, परिशिष्ट
3. लेख-भिखारी ठाकुर का लोक, हृषिकेश सुलभ, रंग प्रसंग-41, 2013, पृ. 109.
4. लेख-भिखारी ठाकुरः कमजोर लोगों की आवाज, चंद्रशेखर, उद्भावना, वर्ष-13, अंक-45-46, पृ. 11
5. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ.22.
6. लोकप्रिय संस्कृति का द्वंद्वात्मक इतिहास संदर्भः बिदेसिया, 26-27
7. वही, पृ.24
8. वही, पृ.7
9. वहीं, पृ.5
10. बाउवार, द सिमोन, स्त्रीः उपेक्षिता, प्रस्तुति डॉ. प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा.लि. नई दिल्ली-3, 2004, पृ.308.
11. बिहारी रत्नाकर, छंद संख्या-85, प्रणेता-श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' बी.ए., प्रंधकार, शिवाला, वाराणसी, सं. 1969, पृ. 40
12. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ. 53
13. सत्य का बंधन, विवाह बंधन
14. जबरदस्ती
15. बोउवार, द सिमोन, स्त्री. उपेक्षिता, 312
16. अन्य, किसी और से
17. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ. 48
18. अब्दुर्रहमान, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2, चतुर्थ सं., 1992, पृ. 173

19. वही
20. लंबा
21. घुटना
22. तोते की चोंच सरीखी नाक
23. चौड़ी
24. संजीव, सूत्रधार, पृ. 42
25. द्रष्टव्य, भूतलेन की कथा, संपा. बृज बी.लाल, योगेंद्र यादव, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1994
26. भोजपुरी में गाई जाने वाली लोकगाथा 'आल्हा-उदल' में आल्हा के पुत्र को कामरूप मंदिर में एक काला जादू करने वाली स्त्री के द्वारा भेड़ बनाकर रख लिए जाने की कथा कही जाती है।
27. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ. 31
28. शाहिद अमीन, ज्ञानेंद्र पाण्डेय, निम्नवर्गीय प्रसंग-1, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नयी दिल्ली-2, प्र.सं. 1995, पृ. 81-82
29. वही, पृ. 83।
30. वही, पृ.85।
31. द्रष्टव्य, लोप्रिय संस्कृति का द्वंद्वात्मक समाजशास्त्र: बिदेसिया, चंद्रशेखर, जसम
32. द्रष्टव्य, फ्लैप, पॉपुलर कल्चर, सुधीश पचौरी, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि. दिल्ली-92, पृ.स. 2004
33. द्रष्टव्य, लोक्धामी नाट्य परंपरा और भिखारी ठाकुर का साहित्य, पृ. 148 (अप्रकाशित)।

चाँद तन्हा

चाँद तन्हा है आसमान तन्हा
दिल मिला है कहाँ कहाँ तन्हा

बुझ गई आस छुप गया तारा
थरथराता रहा धुँआ तन्हा

ज़िंदगी क्या इसी को कहते हैं
जिस्म तन्हा है और जाँ तन्हा

हमसफ़र कोई गर मिले भी कहीं
दोनों चलते रहे कहाँ तन्हा

जलती बुझती-सी रोशनी के परे
सिमटा-सिमटा सा एक मकान तन्हा

राह देखा करेगा सदियों तक
छोड़ जायेंगे ये जहाँ तन्हा

मीना कुमारी
साभार

अमृता प्रीतम के साहित्य पर भारत विभाजन का प्रभाव

डॉ. लाजपत राय
असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान

अमृता प्रीतम (1919-2005) हिन्दी-पंजाबी की प्रतिष्ठित कवियित्री, कथा लेखिका, संपादिका, अनुवादिका और चितंक थीं। उनके साहित्य का विभिन्न भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ भारत विभाजन के पहले और बाद के उथल-पुथल के दौर में पंजाब में रहते हुए और तत्पश्चात तेजी से बदलते सामाजिक और सांस्कृतिक युग को जीते हुए उन्होंने अपने समय को अपनी रचनाओं में ईमानदारी से उतारा और अपनी कविताओं, उपन्यासों और कहानियों द्वारा उन्हें स्वर दिया। उनकी कविताओं के लगभग 18 सकंलन, 31 उपन्यास, 20 कहानी-संग्रह तथा गद्य की अन्य विधाओं में 40 कृतिया प्रकाशित है। उनके जीवन और कृतित्व पर चार फिल्में बनी तथा उपन्यासों एवं कहानियों पर आधारित दस फिल्में एवं टी.वी. धारावाहिक यह सिलसिला लगातार जारी है। अब उन पर नाटक भी लिखे जा रहे है। दीप्ती नवल तथा शेखर सुमन ने उनके जीवन पर आधारित एक नाटक में अभिनय भी किया है।[1]

1956 में प्राप्त साहित्य अकादेमी पुरस्कार के अलावा उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार, बल्गारिया और फ्रांस के पुरस्कार, भारत सरकार द्वारा पदमश्री तथा पदम विभूषण, अनेक विश्वविद्यालयों द्वारा डी.लिट की उपाधि भी प्रदान की गई। वे राज्य सभा की मनोनीत सदस्या भी रही।

अमृता प्रतीम का जन्म 31 अगस्त, 1919 को गुजरावाला (पाकिस्तान) में हुआ उनके पिता का नाम करतार सिंह हितकारी तथा माता का नाम राज कौर था। अमृता ने 1932 में पंजाबी की 'विद्वानी' की परीक्षा उर्त्तिण की। 1933 में ज्ञानी की खालसा स्कूल फार गर्ल्स से दसवीं की। उसके बाद एफ.ए. की परीक्षा दी पर बीमार हो जाने के कारण फिर और कोई परीक्षा नहीं दे सकीं। उसी दौरान उनके पिता ने उन्हें भाषा साहित्य के ज्ञान में निपुण कर दिया था। अमृता प्रीतम की कुछ प्रारंभिक कविताएं 'रणजीत नगाड़ा' में प्रकाशित हुई।[2]

1936 में अमृता प्रीतम का विवाह प्रीतम सिंह कवात्रा के साथ हुआ। प्रीतम सिंह के नाम से ही अमृता ने अपना नाम अमृता प्रीतम लिखना प्रारंभ कर दिया। जब भारत विभाजन के लिए और विभाजन के बाद की घटनाओं ने उस तबाही, लूटमार,

कत्ले आम तथा निष्कासन ने अमृता प्रीतम को झकोर कर रख दिया। इतिहास में इतनी व्यापक, भयानक त्रासदी पहले कभी घटित नहीं हुई थी। अमृता को भी परिवार सहित जड़ों से उखड़ना पड़ा। मैं अपने पेपर में अमृता प्रीतम के साहित्य पर भारत विभाजन का प्रभाव को प्रस्तुत करने का विनम्र प्रचारू कर रहा हूँ। यह उल्लेखनीय कि उनके जीवन के अन्तिम वर्ष 2005 में पिंजर का फ्रेंच में अनुवाद के लिए उनहें पेरिस का साहित्य पुरस्कार प्रदान किया गया।[3]

भारत विभाजन का अमृता पर जो प्रारम्भिक प्रभाव पड़ा उसे उन्हीं के शब्दों में बयां कर रहा हूँ। वे लिखती थीं, जब हिन्दुस्तान की तकसीम होने लगी तो कई तरह के सवाल आग की लपटों जैसे उठते। क्या यह जमीन उनकी नहीं है जो यहा पैदा हुए? फिर ये हाथों मे पकड़े हुए हथियार किनके लिए हैं? अखबार रोज खबर लाते थे कि आज इतने लोग यहाँ मारे गए, आज इतने वहाँ मारे गए... पर गाँव कस्बे शहर में लोग टूटती हुई साँसों में हथियारों के साये में जी रहे थे... बहुत पहले की एक घटना याद आती जब माँ थी और जब कभी माँ के साथ उनके गाँव में जाना होता, स्टेशनों पर आवाज आती थी– हिन्दू पानी, मुसलमान पानी, और माँ से पूछती थी–क्या पानी भी हिन्दू मुसलमान होता है? तो माँ इतना ही कह पाती–यहाँ होता है, पता नहीं क्या–क्या होता है... फिर जब लाहौर में रात को दूर–पास के घरों में आग की लपटें निकलती हुई दिखाई देने लगीं और कई चीखें सुनाई देतीं जो दिन के समय लंबे कर्फ्यू में दब जाती थी... पर अखबारों में से सुनाई देती थीं तब लाहौर छोड़ना पड़ा था।[4]

अमृता आगे लिखती है ''थोड़े दिन के लिए देहरादून में पनाह ली थी जहाँ अखबारों की सुर्खियों से भी जाने कहाँ–कहाँ से उठी हुई चीखें सुनाई देतीं रोजी–रोटी की तलाश में दिल्ली जाना हुआ तो देखा बेघर लोग वीरान से चेहरे लिए उस जमीन की ओर देख रहे होते जहाँ उन्हें पनाहगीर कहा जाने लगा था... अपने वतन में बेवतन हुए लोग... चलती हुई गाड़ी से भी बाहर के अँधेरे में मिट्टी के टीले उस तरह दिखाई देते– जैसे सारी जमीन पर कब्रें बिछी हुई हैं... बहती हुई हवा उस तरह थी जैसे अँधेरे का विलाप हो। उस समय वारिश शाह का कलाम मेरे सामने आया जिसने हीर की लंबी दास्तान लिखी थी जो लोग घर–घर में जाते थे। मैं वारिश शाह से ही मुखातिब हुई...

गाते उठो वारिश शाह–
कहीं कब्र में से बोलो
और इश्क की कहानी का–
कोई नया वरक खोलो....
पंजाब की एक बेटी रोई थी

तूने लंबी दास्तान लिखी
आज तो लाखों बेटियाँ रोती हैं
तुम्हें–वारिस शाह से कहती हैं....
दर्दमंदों का दर्द जानने वाले
उठो और अपना पंजाब देखो।

आज हर बेले में लाश बिछी हुई है
और चनाब में पानी नहीं
...अब लहू बहता है....
पांच दरियाओं के पानी में
यह जहर किसने मिला दिया
और वही जहर का पानी
खेतों को बोने सींचने लगा....
पंजाब की ज़रखेज जमीन में
वही जहर उगने फैलने लगा
और स्याह सितम की तरह
वह काला जहर खिलने लगा....
वही जहरीली हवा
वनो-वनो में बहने लगी
जिसने बाँस की बाँसुरी
जहरीली नाग सी बना दी....
नाग का पहला डंक मदारियो को लगा
और उनके मंत्र खो गए....
फिर जहाँ तहाँ जब लोग
जहर से नीले पड़ने लगे....
गले से गीत टूट गए
चर्खे का धागा टूट गया
और सखिया जो अभी-अभी यहाँ थीं
जाने कहाँ कहाँ गई....
हीर के मांझी ने वह नौका डुबो दी
जो दरिया में बहती थी
हर पीपल से टहनियां टूट गई
जहाँ भूलों की आवाज़ आती थी....
वह बाँसुरी जाने कहां गई
जो मुहब्बत का गीत गाती थी
और सम्पर्क के भाई बंधु
बाँसुरी बजाना भूल गए....
जमीन पर लहू बहने लगा
इतना की कब्रें चूने लगीं
और मुहब्बत की शहजादियाँ
मज़ारों में रोने लगी....
सभी कैदों में नज़र आते हैं
हुस्न और इश्क को चुराने वाले
और वारिस कहाँ से लाएं
हीर की दास्तान गाने वाले....
तुम्हीं से कहती हूँ- वारिस!
उठो! कब्र में से बोलो
और इश्क की कहानी का
कोई नया वरक खोलो....[5]

अमृता के इन भावों को समझ कर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत विभाजन का सीधा असर उनकी लेखनी में आना शुरू हो चुका था। अपनी इस नज़्म पर मिली प्रतिक्रियाओं पर अमृता का यह कहना था, तब अजीब वक्त आया- यह नज़्म जगह-जगह गाई जाने लगी। लोग रोते और गाते। पर साथ ही कुछ लोग थे, जो अखबारों में मेरे लिए गालियाँ बरसाने लगे कि मैंने एक मुसलमान वारिस शाह से मुखातिब होकर यह सब क्यों लिखा? सिक्ख तबके के लोग कहते कि गुरू नानक से मुखातिब होना चाहिए था और कम्युनिस्ट लोग कहते कि गुरूनानक से नहीं लेनिन से मुखातिब होना चाहिए था....[6]

यह सब होता रहा पर कई नज़्में-मुझ पर जैसे बादलों सी घिरतीं और बरस जातीं-अमृता आगे लिखती है-

तकदीर उठी–रकाव में पैर रखा पोठोहार घोड़े के पैरों में कुचलती पूरे पंजाब को देखने लगी....

उसके घोड़े की आवाज सुन कर धरती आकाश चौंक गए भारत–माँ का दिल काँपने लगा अब मेरी आबरू का क्या होगा....

क्या किसी ने वह बेटा नहीं जन्मा जो उस घोड़े की लगाम पकड़ ले। क्या कोई मदारी नहीं जो काले नाग को कील ले।

ऊँचे लंबे खेत थे– हरे–भरे खलवाड़े में आग किसने लगा दी आग की लपटों पर लोग सान चढ़ने लगे....

पाँच दरियाओं के पानी गर्म तेल से बहने लगे....

खेतों के बीज हाथों से टूट गए हांडियां पकाती हुई कलछियां फूट गई कुंए में मटकी की रस्सी टूट गई कलाइयों की चूड़ियां– टूट गई....

इस पेड़ का क्या होगा? उस छाया का क्या होगा? नफरत के कीड़े तो जड़ मे लगे हैं और राही–रास्ता भूलने लगे हैं....

कैसी हवा चलने लगी राजा–तू कैसा राज करेगा कि आने वाली पीढ़ी तक एक राख सी उड़ने लगी....

राजा! तू कैसा राज करेगा सिर पर कोई आकाश न रहा पैरों के नीचे ज़मीन न रही....[7]

विभाजन का कितना गहन असर उनके लेखन पर था यह इन पंक्तियों से और भी स्पष्ट हो जाता है, उन्होंने लिखा मैं अक्षरों में भी भीगती रही आंसुओं में भी भीगती रही लिखती रही....

उस मजहब के माथे पर से यह खून कौन धोएगा....

जिसके आशिक–हर गुनाह मजहब के नाम से करते राहों पर कांटे बिछाते हैं जबान से जहर उगलते जवान खून को बहाते हैं और खून से भरे हाथ मजहब की ओट में छिपाते है....

तहजीब की लाश– बाजार में रुलाने लगी और हर गुनाह की बात–मजहब के माथे पर लगने लगी....[8]

लाखों लोगों ने जो विभाजन का दर्द झेला था ऐसा प्रतित होता है कि अमृता के लेखन में उन सब का दुख–दर्द समा गया है। अमृता का सबसे ज्यादा चर्चित

उपन्यास पिंजर भारत विभाजन के दुख-दर्द सहते पात्रों पर ही आधारित है। अन्त में पिंजर पर एक संक्षिप्त टिप्पणी करना चाहूगां। अमृता के ही शब्दों में, ''उन्हीं दिनों मैंने एक उपन्यास लिखा था 'पिंजर, जिसकी कहानी बँटवारे से पहले शुरू होती है और बटँवारे के उस मुकाम पर आती है जब दोनों सरकारें-अपनी-अपनी अगवाशुदा लड़कियां ढूंढ रहे हैं और उस कहानी की 'पूरो' वह है जो बँटवारे से पहले उठा ली गयी थी, एक निजी दुश्मनी के हाथों और जिसे माँ-बाप ने वार्षिक लेने से इनकार कर दिया था....

वह एक घटना थी, लेकिन बँटवारे के समय ऐसी घटना घर-घर में होने लगी थीं वे आगे लिखती है ''अब उठाई हुई लड़कियों के माँ-बाप उन्हें ढूंढ रहे थे। पूरो अपनी भाभी को तलाशती है जो बँटवारे के समय उठा ली गयी थी और जब भाई के हाथ उसे सौंपती है तो उस वक्त पूरो के माँ बाप उसे भी लेने को तैयार है- लेकिन पूरो अपने बच्चे को बाहों में लिए कहती है- ''नहीं अब तो जो भी लड़की चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, जो भी ठिकाने पर पहुँच रही है, समझना पूरो की आत्मा ठिकाने पर पहुंच रही है....''[9] पिंजर उपन्यास भी विभाजन की त्रासदी को ही उभारता है।

अन्त में यही कहना चाहूँगा कि जिस प्रकार भीष्म साहनी का तमस उपन्यास खुशवंत सिंह का ट्रेन टू पाकिस्तान, भारत विभाजन की त्रासदी पर आधारित उसी प्रकार अमृता के उत्कृष्ट लेखन पर भी भारत विभाजन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

संदर्भ

1. हिन्दुस्तान, 24 सितम्बर 2017, पृ.10
2. सुतिंदर सिंह नूर, अमृता प्रीतम, (दिल्ली, साहित्य अकादेमी, 2012), पृ. 10
3. वही, उपरोक्त वर्णित, पृ. 11
4. अमृता प्रीतम, अक्षरों के साये (दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स 2017), पृ. 14
5. वही, उपरोक्त वर्णित, पृ. 18
6. वही, उपरोक्त वर्णित, पृ.18
7. वही, उपरोकत वर्णित, पृ. 19
8. वही, उपरोक्त वर्णित, पृ. 20
9. वही, उपरोक्त वर्णित, पृ. 24

उफनती लहरों के तट से
थंगसिरि की सुरम्य शाम तक वाया अजनेगो

डॉ. मुकेश मानस
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

नाश्ता करने से पहले या नाश्ता करने के बाद खुशी का एक ही राग शुरु हो जाता कि चलो स्वीमिंग पूल में। पिछले दिन वंदना ने मेरे लिए एक स्वीमिंग कास्ट्युम खरीदा था। मैं खुशी के साथ स्वीमिंग पूल पर पहुँचा। चेंजिंग रुम में कौस्ट्युम पहना। बाहर आकर एलीफेंट शावर लिया, पेट को दबाये हुए ताकि पेटुला ना दिखूं। मगर ज्यादा देर तक नहीं रोक सका। खैर वहाँ कोई देखने वाला था भी नहीं। पहले खुशी के साथ छोटे पूल में रहा। उसके साथ खेलता रहा। स्वीमिंग पूल और स्वीमिंग पूल में उतरने वालों की देखभाल करने के लिए वहाँ एक दुबला-पतला मगर एक लम्बा लड़का तैनात था। उसने हमें दो रिंग लाकर दे दिये। इस लड़के से मेरी बातचीत पहले ही हो चुकी थी। वह वहीं के किसी जिले के गाँव से आकर वहाँ पार्ट-टाईम नौकरी कर रहा था और साथ ही साथ अपनी पढ़ाई कर रहा था। काफी हँसमुख और ध्यान रखने वाला लड़का था वो। उसने मुझे बड़े पूल में उतरने के लिए प्रेरित किया और बताया कि पूल की गहराई मेरे कद की लम्बाई से कम है। इसलिए मैं डूबूंगा नहीं। फिर भी मैंने उसे आग्रह किया कि मेरे आस-पास ही रहे। मैं जीवन में पहली बार स्वीमिंग पूल में उतरा। मैंने रिंग को अपने हाथों के नीचे फँसा लिया। किसी काम की शुरुआत जितनी मुश्किल लगती है वह उतनी होती नहीं। यह बात शुरुआत करने के बाद ही पता चलता है। धीरे-धीरे हिचक निकल गयी और मुझे पानी में होने का आनन्द आने लगा। फिर रिंग के ही सहारे मैंने तैरने का प्रयास किया। रिंग के सहारे ही सही पर मुझे पूल में तैरने का मजा आने लगा। कभी उल्टा होकर तैरता तो कभी सीधा होकर पानी में तैरना मुझे एक मजेदार खेल जैसा लगने लगा। एक बार संतुलन बिगड़ जाने पर पानी में कई कुलाटियां खाई तो नाक और मुंह में पानी भर गया। फिर तो खेल की गंभीरता भी ध्यान में आ गयी।

नाश्ता करके कमरे में लौटे ही थे कि रिसेप्शन से फोन आ गया यह बताने के लिए कि हमारी कैब आ गयी है। हम तैयार होकर जल्दी-जल्दी नीचे उतरे। सुधाकर साहब मिले तो उन्होंने पूछा कि कहाँ जाना है तो हमने उन्हें बता दिया। सुधाकर साहब ने कैब ड्राइवर को बुलाकर सब कुछ समझा दिया। सुधाकर साहब के निर्देशानुसार ड्राईवर हमें अरेबियन सागर के किनारे-किनारे बनी सड़क से ले चला। यह एक कंट्री साईड रोड था इसलिए यह एक कम चौड़ी सड़क थी। यह पूरी तरह

से समन्दर के किनारे तो नहीं बनी थी। मगर समन्दर बहुत दूर भी नहीं थी। सड़क के दोंनो तरफ घर बने थे। बाँई तरफ के घर समन्दर के किनारे बने हुए थे। कोई खाली जगह आने पर समन्दर हमें दिख जाता था। बीच-बीच में दोनों तरफ खूबसूरत चर्च भी दिख जाते। चर्च जाने क्यों मुझे आकर्षित करते हैं। धार्मिक स्थानों के मामले में चर्च और गुरुद्वारे ही हैं जो बेहद साफ-सुथरे होते हैं और वहाँ आने वालों के लिए सुविधाजनक भी। इस मामले में हिन्दू मंदिर न तो साफ सफाई पसन्द होते हैं और आने वालों के लिए सुविधाजनक तो वे कतई नहीं होते। आप हजारों मील से चलकर किसी मंदिर में पहुँचिए क्या मजाल कि आपको वहाँ आराम से बैठने की कोई जगह मिल सके। कई साल पहले मैं कसौली गया था । कस्बे से कोई दस किलोमीटर पैदल चलकर और चढ़ाई चढ़कर जब हम मंकी टाप पहुँचे तो वहां ऐसी सुविधा भी नहीं थी कि हम वहाँ आराम से बैठकर थकान उतारते हुए उस ऊँची पहाड़ी जगह के सौंदर्य का नजारा ले पाते। लेकिन गोवा में मैंने देखा था कि वहाँ के मन्दिर जितने खूबसूरत थे उतने ही साफ-सुथरे भी थे। क्यों न होते आखिर उनका मुकाबला गिरिजाघरों से जो था।

इस रास्ते पर ट्रैफिक बहुत ही कम था। शायद इसी वजह से सुधाकर साहब ने इधर से जाने को कहा होगा। बातचीत होने पर हमारे ड्राईवर सोजी ने बताया कि यह रास्ता थोड़ा लम्बा है पर इस पर ट्रैफिक बहुत कम होता है। वह टूटी-फूटी हिन्दी-अंग्रेजी मिश्रित भाषा बोल रहा था। उसने बताया कि वह कई सालों से यहाँ कार चला रहा है। पर इस रास्ते वह बहुत कम ही आया गया है। हम वर्कला तट की ओर जा रहे थे जो कन्याकुमारी की उल्टी दिशा में पड़ता है। सोजी बीच-बीच में लोगों से मलयालम में रास्ता पूछ रहा था ताकि किसी गलत रास्ते पर ना चला जाये।

बीच में एक बड़ी नदी पड़ी जिसके ऊपर बने एक पुल से हमें गुजरना था। पुल काफी लम्बा था। पुल के नीचे से नदी बांई तरफ दो हिस्सों में बँट जाती है। हमने कार वहाँ रुकवाई । बहुत ही खूबसूरत नदी थी। एकदम स्वच्छ जल। नदियों में इतना साफ पानी सिर्फ पहाड़ी इलाकों में ही देखने को मिलता है। नदी के दोनों तरफ खड़े हरे-भरे नारियल के घने झुरमुट इस जगह की खूबसूरती में चार चाँद लगा रहे थे। एक तरफ से एक छोटी नाव चली आ रही थी जिस पर दो लोग बैठे हुए थे। कुल मिलाकर दृश्य किसी अदभुत कलाकृति जैसा लग रहा था।

चले तो फिर से किसी बस्ती के बीच से गुजरने लगे। बीच में किसी देवी का मंदिर पड़ा। एक बहुत विस्तृत चौकोर मैदान में यह मंदिर बना था। मैदान के एक तरफ मंदिर था और बाकी मैदान खाली पड़ा था। मंदिर काफी बड़ा और साफ सुथरा था। वहाँ ज्यादा लोग नहीं थे। मंदिर के दो दरवाजे थे । एक मुख्य द्वार था

और दूसरा मंदिर का प्रवेश द्वार। मुख्य दरवाजा बहुत ही खूबसूरत था और खास केरल शैली में बना हुआ था। यह चार मोटे खंभों से बना था जिसके ऊपर दोनों किनारे पर दो झोंपड़ीनुमा आकृतियां थीं। उनके ऊपर दो खंभे और फिर से झोंपड़ीनुमा आकृतियां। इस तरह यह दरवाजा ऊँचाई की तरफ अंग्रेजी के अक्षर वी की उल्टी शेप में बढ़ता गया था। दरवाजे पर ऊपर की तरफ बीचों-बीच कुछ देवी-देवताओं की मूर्तियां थीं। विशाल दरवाजे से प्रवेश किया तो मंदिर प्रवेश द्वार पर पहुँचे। यह भी मुख्य दरवाजे की ही तरह बेहद कलापूर्ण और खूबसूरत था। दरवाजे के दोनो खंभों पर ऊपर की तरफ दो शेरों की मूर्तियाँ लगीं थीं जो बेहद कलात्मक और जीवंत थीं। केरल के ज्यादातर मंदिर अपने आप में स्थापत्य कला के अदभुत नमूने हैं। सभी मंदिरों की आकृतियां लगभग एक जैसी ही होती हैं। स्थापत्य सभी का लगभग एक जैसा ही है। हम मंदिर के भीतर तो नहीं गये सिर्फ कुछ देर वहाँ रुके रहे।

इस रास्ते से वर्कला तट से पहले एक किला पड़ता है जिसे अजनेगो किला कहा जाता है। सोजी रास्ता पूछते-पूछते किसी गाँव के भीतर से होता हुआ एक सुनसान सी जगह पर ले आया। सामने नजर पड़ी तो एक हल्के सफेद रंग से पुती ऊँची दीवार दिखाई दी और भारतीय पुरातत्व विभाग का एक बोर्ड भी। बाँई तरफ एक सफेद और लाल रंग में पुता लाईट हाउस भी। हम समझ गये कि किले पर पहुँच गये हैं। किले के छोटे से दरवाजे के पास सोजी ने कार रोक दी। हमने उतर कर किले में प्रवेश किया। यह एक चौकोर किला था। जिसके भीतर कोई इमारत नहीं थी। किले के बीचों-बीच एक घने वृक्ष के नीचे एक मेज और कुर्सी रखी हुई थी। मेज पर एक रजिस्टर रखा हुआ था। हमें आया देखकर एक आदमी कुर्सी पर आकर बैठ गया। हम उसके पास गये तो उसने रजिस्टर हमारी ओर खिसका दिया। हमने उसमें अपना नाम और पता लिखा।

किले के ऊपर चढ़ने के लिए चारों तरफ सीढ़ियां बनी हुई थीं। किले की दीवार इतनी मोटी थी कि उस पर चलने का एक रास्ता बना हुआ था। यह रास्ता इतना चौड़ा था कि उस पर से एक कार आराम से गुजर सकती थी। हम एक तरफ से ऊपर चढ़े तो पता चला कि किला काफी ऊँची जगह पर है। किले के एक तरफ लाईट हाउस था तो दूसरी तरफ विशाल अथाह समुद्र। किले में चार गढ़ हैं दो समन्दर की ओर हैं तो दो बस्ती की ओर। समन्दर की ओर की दीवार पर बंदूकें और तोपें रखने की जगह रही होगी। हम अजेंगो बस्ती के बीच में बने अजेंगो किले से समन्दर के नजारे का आनन्द लेने लगे।

अजेंगो अँग्रेजों द्वारा बसायी बहुत पुरानी बस्तियों में से एक है। अजेंगो का मलयालम में अर्थ होता है–पाँच नारियल के वृक्ष। किसी जमाने में यह जगह बहुत सुनसान रही होगी। इस क्षेत्र में अंग्रेजों से पहले डचों का प्रभुत्व था। वे यहाँ से पैपर (काली मिर्च), कॉयर (जूट) और अन्य चीजों को समुद्र के रास्ते ले जाकर उनका अपने देश में व्यापार करते थे। डचों के एकाधिकार को तोड़ने की रणनीति के तहत ही राजा रवि वर्मा के शासनकाल के दौरान अत्तिंगल की रानी से अनुमति लेकर अंग्रेजों ने इस किले को बनाया था। 1695 में यह किला बन कर तैयार हुआ। इस किले के कई स्मृति लेख हैं। सबसे पुराना स्मृतिलेख 1705 का है। यह किला अंग्रेजों के शासन के खिलाफ और स्वाधीनता के लिए केरल की जनता के विद्रोह के इतिहास का भी प्रतीक है। इस किले के इर्द–गिर्द हुआ विद्रोह अजेंगो विद्रोह के रुप में जाना जाता है जो अंग्रेजों के खिलाफ केरलवासियों का पहला संगठित विद्रोह था। इस विद्रोह के दौरान अत्तिंगल की रानी को उपहार देने जा रहे 140 अंग्रेजी सैनिकों के जत्थे पर स्थानीय निवासियों ने आक्रमण कर दिया और पूरे के पूरे जत्थे का सफाया कर दिया। तेल्लिचरी से फौज आने तक उन्होंने पूरे किले पर अपना अधिकार बनाये रखा। समय कितनी तेजी से सबकुछ पीछे छोड़ता जाता है। इन विद्रोहियों की वीरता की गाथा अब अतीत हो चुका है। अब बचा है केवल उनकी स्मृतिस्वरुप यह किला जो लगातार अपनी प्रासंगिकता खो रहा है। मैंने अजेंगो विद्रोहियों को मन ही मन याद किया और उनको भावभीनी श्रद्धांजलि दी।

हम दूसरी तरफ से बस्ती के बीच से होकर निकले तो पता चला कि अजेंगो बस्ती काफी बड़ी है। बीच में एक बहुत ही सुंदर मस्जिद भी दिखाई पड़ी तो अहसास हुआ कि मुस्लिम आबादी भी यहाँ है। बस्ती से निकल कर हम एक मुख्य सड़क पर पहुँचे तो मन प्रसन्न हो गया। दूर–दूर तक एकदम खाली सड़क और उसके दोनों तरफ ऊँचे–ऊँचे नारियल के पेड़ों के घने झुरमुट। इतना खाली और मनमोहक रास्ता जीवन में यदा–कदा ही देखने को मिलता है। कुछ देर में ही हम वर्कला बस्ती पहुँच गए जो वर्कला तट पर बनी थी। यह एक छोटी बस्ती थी, जिसके ज्यादातर घर अब होटल, रेस्टोरेंट और दुकानों में तब्दील हो गये थे। कार पार्किंग पर खड़ी की। वंदना ने सन्स्क्रीम लोशन लगाने को दिया ताकि धूप में त्वचा को नुकसान ना पहुँचे। मैंने उसे लगाने के लिए अपना चश्मा उतारकर अपने हाफ पैंट की जेब में रख लिया और खुशी को लेकर तट की ओर चला। तट के पास बनी एक दुकान से वंदना खुशी के लिए टोपी खरीदने लगी ताकि खुशी तेज धूप से बच सके। तभी मुझे अपने चश्मे का ध्यान आया। या तो मैं उसे कार में भूल आया था या फिर कहीं गिर गया था। कार में तो वह नहीं दिखा। लौटते हुए सड़क पर

जीर्ण-शीर्ण हालत में मिला। कोई गाड़ी उसके ऊपर से गुजर गयी थी। उसके शीशे टूट गये थे। मैं टूटे चश्मे को लेकर उदास हो गया। कुछ महीनों पहले ही मैंने उसे बनवाया था। उसमें दूर और पास देखने का प्रोग्रेसिव लेंस लगा था। इस चश्मे ने दो चश्मे रखने के झंझट से निजात दिला दी थी। हालांकि उससे कभी-कभार परेशानी भी होती थी और मैं उसको बदलने की भी सोचता था पर कर नहीं पा रहा था। जीवन में इतना मंहगा चश्मा पहली बार जो पहना था। यहाँ उसके मोह से छूटा तो मगर जिस तरह छूटा वह कुछ अच्छा नहीं लगा। कभी-कभी अपनी छोटी-छोटी चीजों से भी हमको कितना मोह हो जाता है कि उनसे छूटना चाहते हुए भी हम उनसे छूट नहीं पाते। आखिर इन चीजों में ऐसा क्या होता है जो हमें इनसे जोड़े रखता है और तब तक जोड़े रखता जब तक वे खुद ना छूट जायें।

खैर, समन्दर ने मेरा दुख कुछ कम कर दिया। अब समन्दर मुझे लगातार ऊर्जा और उमंग से भर रहा था। एक गहरी उदासी जो मैं अपने साथ लेकर आया था समन्दर लगातार उसे धुंधला कर रहा था। वह धीरे-धीरे छूट रही थी। जितनी बार समन्दर में उतरता लगता मानों समन्दर की लहरें इस उदासी को मुझसे बाहर कर रही थीं। वर्कला तट कुछ छोटा ही था मगर था बेहद खूबसूरत। एकदम स्वच्छ नीला पानी देखकर मन खुश हो गया। वर्कला का तट अपनी खूबसूरती,स्वच्छ पानी और तेज लहरों के लिए मशहूर है। वाकई वर्कला तट से टकरातीं लहरें थीं या तेज रफतार से दौड़ने वाले घोड़े। खुशी तो डर के मारे तट के किनारे पड़े पत्थरों पर ही बैठ गयी और तेज लहरों के संगीत का आनन्द लेने लगी। काला चश्मा लगाये, सिर पर गुलाबी रंग की गोल टोपी लगाये, काले पत्थरों पर बैठी बहुत ही सुंदर लग रही थी मानो कोई छोटी राजकुमारी हो।

समन्दर का इतना साफ पानी देखकर मैं भी खुद को रोक न सका और जीवन में पहली बार समन्दर में उतर पड़ा। समन्दर तो मैंने गोआ में भी देखा था मगर मैं समन्दर के भीतर नहीं गया था। यहाँ समन्दर के पानी में उतरा तो पता चला कि क्या होता है समन्दर के पानी में उतरना। तेज लहर समन्दर के किनारे की तरफ खींचती और लौटती हुई लहर समन्दर में ले जाने को आतुर दिखती। जाती हुई लहर भी इतनी तेज होती कि अपने आपको सँभाले रखना एक कठिन काम जान पड़ता। धीरे-धीरे मैं अभ्यस्त हो गया। समन्दर में खड़े होते हुए मैंने महसूस किया कि समन्दर कितना शाश्वत और कितना गहन है। अंदर तक छू जाता है। लहरों के बीच खड़े होने का अहसास शाश्वत के बीच खड़े होने का अहसास है। लगभग दो घंटे वहाँ रहने के बाद हम कप्पिल झील देखने के लिए आगे बढ़े।

वर्कला से कोल्लाम जाने वाले रास्ते पर एक तरफ स्वच्छ निर्मल कप्पिल झील है तो दूसरी तरफ अथाह अरेबियन सागर। एक खास जगह पर ये दोनों एकमेक हो जाते हैं। झील समन्दर हो जाती है और समन्दर झील। दोनों के इस मिलन स्थल को देखना एक अदभुत नजारा होता है। अगर झील के दोनों ओर खड़े नारियल के पेड़ों की अन्तहीन पांति न हो तो देखने में कप्पिल झील समन्दर जैसी ही दिखती। कप्पिल झील के ऊपर बने निर्जन पुल को पारकर जहाँ सोजी ने कार रोककर खड़ी की वहां दूर-दूर तक अथाह समुद्र था और उसकी उत्ताल लहरें थीं, आसमान को छू लेने की हसरत से कुलाचें मारती। यहाँ समुद्र की लहरों की तेजी और ऊँचाई कुछ ज्यादा ही होती है। इसलिए सड़क के किनारे-किनारे पत्थरों की बाड़ बनायी हुई है ताकि लहरों की तेजी थोड़ी कम हो सके। कभी-कभी समन्दर की लहरों की गति और उनकी ऊँचाई इतनी ज्यादा हो जाती है कि ये सड़क को भी पार कर जाती हैं और कप्पिल झील में गिर जाती हैं। ऐसे समय में इस रास्ते से आवागमन बंद कर दिया जाता है। अदभुत नजारा था वहाँ का। एक तरफ गरजता हुआ समुद्र था तो दूसरी तरफ नारियल के पेड़ों के घने झुरमुट से झांकती शान्त झील। विरोधाभास इसी को कहते हैं शायद। यही विरोधाभास हमारे भीतर भी अक्सर घटित हो रहा होता है। यह विरोधाभास ही है जो हमें बचा ले जाता है। यह विरोधाभास न हो तो जीवन कितना एकरस हो जाये। लेकिन स्थिरता सबको अच्छी लगती है उतार-चढ़ाव नहीं। जबकि स्थिरता तो उतार-चढ़ाव से ही पैदा होती है।

वहाँ गिनती की कुल जमा तीन कारें खड़ी थीं। एक कार में तो लाटरी बेचने की दुकान थी और दूसरी में आइसक्रीम की। मैंने गौर किया था कि केरल में वामपंथी सरकार के शासन के बावजूद वहाँ लाटरी बेचने का धंधा जोरों पर था। यह भी अजीब विरोधाभास था। वामपंथी लोग भाग्य में भरोसा नहीं करते। लेकिन वामपंथी सरकार भाग्य के खेल को चलाये हुए थी। पता नहीं किस मानसिकता के तहत ऐसा किया जा रहा था।

खैर, आईसक्रीम लेकर वहाँ खड़े-खड़े हम समुद्र का नजारा देखते रहे। बाँई तरफ समन्दर के किनारे-किनारे एक कच्चा रास्ता था जो वर्कला तट तक जाता था। रास्ते के दोंनो ओर नारियल के पेड़ खड़े-खड़े हवा में झूम रहे थे और आसमान को छूने की चुनौती ले रहे थे। अगर खुशी साथ न होती तो मैं उस रास्ते पर वर्कला तक पैदल जरूर जाता । क्या अदभुत अनुभव होता उस रास्ते पर चलने का। खैर हम वापिस पुल पार करके कप्पिल झील पर टहलने के लिए नीचे उतरे। वहाँ एक सरकारी बोट कम्पनी-'प्रियदर्शनी बोट क्लब' की कई बोट खड़ी थीं मगर झील के किनारे घूमने का कोई रास्ता नहीं था। हम लोग लौट लिए। फिर से पुल पार करते

हुए कोल्लाम की दिशा में आगे बढ़े। अब हमें सेंट थामस फोर्ट और थंगसिरि हार्बर देखना था।

कोल्लाम शहर से चार-पाँच किलोमीटर की दूरी पर समुद्र तट पर बसे छोटे कस्बे थंगसिरि में हार्बर के पास सेंट थामस फोर्ट, लाईटहाउस हैं। थंगसिरि एक ऐतिहासिक जगह है। पुराने समय में यहाँ चीनी व्यापारियों का आना-जाना था। बाद में पुर्तगाली, डच आये और सबसे अंत में अंग्रेज आये और इस इलाके पर उनका प्रभुत्व कायम हुआ। पुर्तगालियों ने अपने व्यापार को बढ़ाने के लिहाज से 1505 में यहाँ एक हार्बर की स्थापना की और 1518 में यह किला बनाकर अपने प्रभुत्व का झंडा गाड़ दिया। बाद में पुर्तगालियों ने इस कस्बे और किले को डच व्यापारियों के सुपुर्द कर दिया जिन्होंने इस कस्बे को डच मालाबार की राजधानी बना दिया। उसके बाद अंग्रेजों ने इसे हथिया लिया।

सेंट थामस फोर्ट यहाँ थंगसिरि फोर्ट के नाम से जाना जाता है। इसके एक तरफ समुद्र है तो दूसरी तरफ हार्बर। हार्बर की सुरक्षा के लिहाज से बनाया गया यह किला कम से कम बीस फीट ऊँचा था और पुर्तगाली शैली में बनाया गया था। मगर अब यह एक खंडहर ही है। इसके आगे बस्ती वालों ने घर बना लिया हैं जिनके पीछे यह छुप गया है। मेरे ड्राईवर और मैंने लोगों से पूछ-पूछ कर बहुत खोजने की कोशिश की मगर यह दिखा नहीं। थोड़ी मशक्कत करने के बाद दिखा भी तो इस तरह कि हम उस तक जा नहीं सकते थे। लोगों ने बताया कि उसकी हालत बहुत खराब है और सांप-बिच्छू भी हो सकते हैं वहाँ। इसलिए खंडहर तक जाने में खतरा है। इतने ऐतिहासिक किले की दुर्दशा देखकर मुझे बहुत दुख हुआ। बाद में यह जानकर अच्छा लगा कि केरल सरकार इस किले के खंडहर को सुरक्षित रखने की योजना बना रही है।

थंगसिरि हार्बर काफी लम्बा चौड़ा था। आकृति में लगभग गोल था। समुद्र के किनारे-किनारे एक ऊँचा पुश्ता बना हुआ था जो लगभग एक-दो किलोमीटर लम्बा था। जहाँ यह पुश्ता खत्म हो रहा था वहाँ समुद्र और तट के बीच सिर्फ इतनी जगह थी कि जहाज और नौकाएँ आ-जा सकें। हार्बर में कितनी ही बड़ी नौकाएँ और छोटे जहाज तैर रहे थे। हम पुश्ते पर थोड़ा आगे तक गये। तब तक शाम ढलने लगी और लोगों का आना शुरु हो गया। शाम होते ही यह पुश्ता एक पिकनिक स्पाट में बदल जाता है। हमने वहीं पुश्ते पर बैठकर सूर्यास्त का आनन्द लिया। थोड़ी देर पहले सफेद दिख रही सूर्य की चमकीली किरणें लाल रंग में ढलने लगीं। सूर्यास्त होते-होते सारा समन्दर और आकाश लाल हो गया। सूर्य की किरणें समन्दर पर बिछ गयीं और सूर्य सागर की गोद में समा गया।

उत्साही लोकमन की लीला

डॉ. राकेश कुमार सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

कहते हैं, बिना उत्साह के जीवन में आनंद कहाँ! जब तक जीवन में उत्साह बना हुआ है, तब तक रस संचार का प्रवाह बना रहता है, यानि कि उत्साही मन की अंतर्यात्रा में दिल-दिमाग व शरीर का समावेशित संग-साथ ही जीवन में उल्लासपूर्ण उमंग को जन्म देता है। इस उमंगपूर्ण उत्साही मन में साहस की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है। यहीं चिंतामणि वाले आचार्य शुक्ल याद आते हैं "साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है। कर्मसौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं। जो लोग मान-अपमान कुछ भी ध्यान न करके निंदा-स्तुति की कुछ भी परवाह न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता व प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं, वे एक ओर उत्साही और वीर कहलाते हैं दूसरी और भारी बेहया।" इस आनंदपूरित बेहयाई उत्साह में कहीं लोकमन की 'लीला' तो नहीं? हो भी क्यों न हमारा धर्म-दर्शन, साहित्य जो लीला से भरा पड़ा है। वाल्मीकि रामायण से लेकर व्यास के महाभारत में लीला ही तो है। क्या पूरे भक्ति रस में उत्साही लोक मन की लीला नहीं है?

भक्त कवि कबीर, सूर, जायसी, मीरा, तुलसी की अभिव्यक्ति में लोकमन की लीला नहीं तो और क्या है? पोथी के बरक्स लोक की लुकाठी लिए लीला कवि का परिचय आचार्य (पंडित) हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों से जाना जा सकता है-'ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्तमौला; स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़; भक्त के सामने निरीह, भेशधारी के आगे प्रचंड; दिल से साफ दिमाग से दुरुश्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर; जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय।' 'पंडित जी' ने कवि के निर्भीक व्यक्तित्व में जिस लीलामयी लय व नाद का परिचय दिया है, वह अद्वितीय है। इस लय पूर्ण उत्साही लोक मन की अन्तश्चेतना का स्थायी भाव है-अंखड़ साहस पूर्ण आत्मविश्वास। इसी विस्वास के अनुभवजनित ज्ञान ने 'जाति न पूछो साधू की, पूछ लीजियो ज्ञान' के सहज भावबोध के साथ 'शास्त्र' के समक्ष 'लोक' को खड़ा कर दिया। आगे चलकर स्वामी विवेकानंद, तिलक, गाँधी व अंबेडकर के उत्साही लोकमन ने क्रमश: धर्म-कर्म-सत्य-अहिंसा के साथ संविधान के माध्यम से लोकमन की लीलाभूमि को अलग पहचान दी। इस सहज व स्वाभाविक भारतीय चिंतन परम्परा की अजस्र धारा में वैदिक-उत्तरवैदिक से होते हुए आधुनिक व उत्तरआधुनिक उत्साही लोकमन की यथार्थ लीला व आभासी लीला फल-फूल रही है।

हे लोकमन! कलजुग है! यहाँ कालाधन के साथ कलामन भी है। न कोई अपना है न पराया है, यहाँ पुरातन सभ्यता का गर्व है तो इसके गर्भ में मनुष्यता की तड़प भी

है। नदियों को माता कहने के साथ ही भ्रूणहत्या करके इसी नदी में पापमुक्ति के मन्त्र भी पढ़े जाते हैं। शुम्भ-निशुम्भ जैसे दानवों का मर्दन करने वाली आदिशक्ति की भूमि 'निर्भया कांड' के लिए अभिशप्त है। जहाँ 'रजा हरिश्चंद्र' से चलकर 'आलमआरा' में 'बंजारन लड़की' को पहली सशक्त आवाज देने वाले 'पर्दे' आज 'मीटू' के लिए विवश कर रहे हैं, वहीं अकादमिक संस्थानों में 'अस्मितामूलक विमर्श की अवधारणा' पर चिंतन जारी है। यह एक अलग बात है कि अकादमिक संस्थान 'शीर्षासन की मुद्रा' में ध्यान मग्न हैं। टीआरपी के खेल में एक तरफ 'न्याय का चौथा स्तम्भ' 'अपने अपने राम' की मूर्तियाँ गढ़ रहा है दूसरी तरफ 'कबीरपंथी' 'मठ' से सत्य-असत्य, ज्ञान-अज्ञान, भक्ति-वैराग्य का प्रवचन जोरों पर है। कमोवेश यही हाल सारे मत व सम्प्रदायों का है। बाबा तुलसी के 'लोकनायक' सर्वोच्च 'अंधी पट्टी की संस्था' में पूरी उम्मीद के साथ न्याय के लिए संघर्षरत हैं। आजकल ब्रांडेड ऐनक में 'गाँधी' 'स्वच्छता अभियान' में कर्मरत हैं। खंडित देश को 'एकता के सूत्र' में पिरोने वाले लौहपुरुष जबसे अपनी ऊँचाई का कीर्तिमान स्थापित किये हैं तबसे सब कुछ देखने के लिए प्रतिबद्ध हैं। वैश्विक विलेज के चक्र में सारा तंत्र 'सबसे बड़ा रुप्पैया' का हो गया है। तभी तो 'काल के कपाल' पर विकास की गति में जिस 'बहुसांस्कृतिक विमर्श' के गीत को गाया जा रहा है उसने अलगावादी पहचान की अंतहीन परिदृश्य खड़े कर दिए हैं।

आजकल का लोकमन क्या यूँ ही अक्सर कहता है। जीवन में रस कहाँ? यह भीड़ में अकेलेपन की त्रासदी है। इसी अजनबियत की सोच से होते हुए वह जीवन-चक्रव्यूह में उलझकर टूट जाता है और अपनी जीवन लीला ही खत्म कर देता है। ऐसे महानुभाव जब दिनकर की 'हिम्मत व जिन्दगी' के भाव-लोक को आत्मसात नहीं कर पाते, तब 'पंडितजी' के 'कुटज' का कर्मबोध याद आता है-"जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो, वायुमंडल को चूसकर, झंझा तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर, अवकाश की लहरी में झूमकर, उल्लास खींच लो कुटज का यही उपदेश है ।"

ऐसे में हे! कूटजीय लोकमन! उपदेश से आगे लीला करनी होगी नहीं तो आदर्श बना दिए जाओगे। भला हो 'पंडित जी' का, जिन्होंने अपनी अंतर्दृष्टि से तुमसे परिचय करा दिया । नहीं तो 'तीन में न तेरह में' दृष्टि वाले हम जैसे लोग 'है प्रीत जहाँ की रीति सदा' के आदर्श बोध की जमीन से चलने वाले क्या समझ पाते। हमारा स्कूली मानस जन गण मन करते हुए, 'विविधता में एकता' के गर्व में बिता है। बुद्ध, नानक, कबीर, तुलसी विवेकानंद, टैगोर, तिलक, गाँधी, अम्बेडकर, सुभाष की एतिहासिक छवि को अपने मन में उतारकर हमने भविष्य के सपने देखें हैं। हमारे सपने की आयरनी यह है कि अपनी दृष्टि से सच करना है। जिस एतिहासिक गुरु दक्षिणा का 'सौभाग्य' एकलव्य को मिला था, उसका भी अवसर हमें कहाँ! इस

गुरु–विहीन दौर में हम सभी के समक्ष अपने स्वप्न को साकार करने की चुनौती स्पष्ट है। इसमें सारा खेल समय का है। हे लोकमन! क्या 'इतिहास के अंत' और 'लेखक की मृत्यु' की घोषणा के साथ ही समय के विमर्श ने गुरु का अंत नहीं कर दिया? इस 'अंत की घोषणा' के कारण 'पंडित जी' ने जिस चिंतन परम्परा के स्वाभाविक विकास की थीसिस रखी थी, क्या वह प्रश्नांकित हुयी है ?

हे उत्साही लोकमन! हमारी 'हस्ती' यूनान, मिस्र, रोम से बड़ी है। यह परंपरा प्रश्नांकित हो सकती है, लेकिन मिट नहीं सकती। आखिर वो 'कुछ बात है, कि हस्ती मिटती नहीं हमारी'। 'कुछ बात' क्या है? 'विविधता में एकता' के सतही नारे से आगे अजस्र प्रवाहित समानता के अंत:सूत्र को लक्षित करना होगा । 'भारत माता ग्रामवासिनी' का जो 'धूलभरा मैला–सा–आँचल' है इसमें "फूल भी है, शूल भी है, धूल भी है, गुलाल भी है, कीचड़ भी है, चंदन भी है," इस 'अक्षय निधि' को दुनिया में जिसने कलंकित किया है उसमें वर्ण ,जाति, कुल, समुदाय, धर्म आधारित जो अतार्किक श्रेष्ठताबोध है, उसने समाज में नफरत, अलगाव, अपमान, अमानवीयता, हीनताबोध को जन्म दिया है। ऐसा नहीं है कि लोकमन में इस कलंकित सोच को मिटाने की कोशिश नहीं की गयी। क्या हिन्दू–मुस्लिम भेद की समस्या मिट नहीं सकती है आखिर आर्य व द्रविड सभ्यता के संघर्ष खत्म नही हुए। सिर्फ यही क्यों? ऐसे ही मंगोल, शक आदि सब समय चक्र में घुलमिल नही गए। नि:संदेह इस मिलन के पीछे आचार–व्यवहार के कुछ एकता के सूत्र काम किये होगें। वैसे भी 'हिन्दू' कोई एक जाति व विशेष समुदाय को प्रस्तुत नहीं करता यह नाना मत व विविध सम्प्रदायों की विशेष समान अंतसूत्र को 'हिन्दू' नाम से जाना गया। नाथों से लेकर संतों तक ने मनुष्य के प्रति प्रेम को केन्द्र में रखकर जातियों व समुदायों के बीच सद्‌भाव का कीर्तन खूब किया। मध्ययुग में ही 'भगवान की दो प्यारी आँखें' के साथ दाराशुकोह ने हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म व अन्य धर्म में एकता के सूत्र लक्षित किया। एकता की इस पहल को आगे आधुनिक काल के राष्ट्र निर्माताओं ने भी जारी रखा, लेकिन निराशा ही हाथ लगी। ऐसे ही हिन्दुओं की आंतरिक भेद समस्याओं के हल हेतु समय समय पर भजन व कीर्तन होते रहते हैं। फिर भी पेशे व कर्म की जड़ता के साथ 'चूरन' के वास्ते भी 'जाति' बदलती रही। अब तो बात डी.एन.ए. टेस्ट तक आ पहुँची है (टेस्ट जिस दिन हो गया उसी दिन जाति–धर्म का महल ध्वस्त हो गया है।) विवेकानंद, गुरुदेव रवीन्द्र से लेकर गाँधी, अम्बेडकर के साथ आज भी इस दुर्भाग्य से पीछा छुड़ाने का गीत–संगीत जारी है। इसकी जड़ें गहरी अवश्य हैं लेकिन जितनी हमने मान ली हैं उतनी तो नही ही हैं।

हे उत्साही कुटजीय लोकमन! अब ढाई आखर प्रेम के पढ़ने के लिए तुमको पूरे मन से बदलते दौर के अस्त्र–शस्त्र की सवारी करनी होगी। हे मित्र! हम सभी को विस्वास है कि तुम सामजिक न्याय व मानव कल्याण की इस अकथ लीला को अवश्य पूरी करोगे।

फेसबुक ते ट्वीटर ते वाट्सअप दी गड्डी

डॉ. प्रवीण कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

हाँजी, तो देखते ही देखते ऑरकुट की गड्डी को फेसबुक की गड्डी ने चिरकुट करार कर बाहर फेंक दिया जी। नहीं तो, कुछ लोगों को याद होगा जी कि ऑरकुट जब ताजा-ताजा हमारे जीवन में आजादी की तरह गिरा था और हम उससे कैसे चिपक गए थे। जैसे-एक कविता है ना जी कि "आजादी सील की तरह गिरी और पिचक गया सारा देश"। इस कविता का अर्थ तो बंदा आजतक तलाश रहा है लेकिन 'सील' के माने भी उसने बहुत देर से जाने जी, सील माने सिलबट्टा। तो कवि कहना चाह रहा था कि हमारी आजादी किसी सिलबट्टा की तरह गिरी और देश के नागरिक पिस गए, वो भी मसाले की तरह? म-राम क्या बेहूदा कविता है जी , भला हमारी आजादी सिलबट्टा हैगी? और हम क्या गरम मसाले हैंगे? इन कवियों को अब भला कौन समझाए? ये थोड़े एड़े भी तो होते हैं न जी।

हाँ, तो मैं केह रहा था कि ऑरकुट-बाबा की गड्डी का जब पदार्पण हुआ तो कई बिछड़े यार मिलते गए जी। अपना लंगोटिया यार जेठालाल है ना जी, उससे लेकर स्कूल-कॉलेज, शहर-मोहल्ले के सारे नए पुराने दोस्त और बिछड़े रिश्तेदार आ जुड़े। और ये सब हो रहा था ऑरकुट-बाबा के आशीर्वाद से। यह एक ऐसी दुनिया थी जिससे हौले-हौले सम्पूर्ण राष्ट्र जुड़ता जा रहा था श्रीमानजी। देश में खुशी की लहर दौड़ पड़ी। इससे जुड़ने वालों का, इससे ना जुड़ने वालों ने ईर्ष्या से नामकरण तक कर दिया 'ऑरकुट संप्रदाय'। जैसे होते थे ना जी बहुत पहले-नाथ-संप्रदाय, सिद्ध-संप्रदाय, वल्लभ-संप्रदाय, राधा-संप्रदाय, सखी संप्रदाय उसी तरह से अब ऑरकुट-संप्रदाय। हालांकि जलने वाले मूर्खों को यह पता नहीं था कि इस देश की मूल आत्मा सम्प्रदायों की शक्ति में ही बसती है जी-आज भी। विरोधी थोड़ा पढ़े-लिखे होते न जी और इतिहास खंगालते तो जान जाते कि इस देश में जो भी वैचारिक मंच थे वे सब के सब किसी ना किसी संप्रदाय विशेष से जुड़े हुए थे जी। यही समस्त संप्रदाय आगे चलकर भारतीय संस्कृति के द्योतक बने। आज भी भारत समस्त भूमंडल में विश्व-गुरु के जिस आसन पर पालथी मार कर बैठा है न जी उसके मूल में इन्हीं सम्प्रययों की प्रेरणा रही है।

लेकिन एक हादसा हो गया जी। हादसा हुआ ऑरकुट-संप्रदाय के साथ और असर हुआ मुझ पर। ऑरकुट-संप्रदाय को फेसबुक-संप्रदाय ने देखते ही देखते पछाड़ दिया जी। इसके तार्किक कारणों की पड़ताल हम बाद में कर लेंगे श्रीमान्

लेकिन फिलहाल ये याद रखें कि यह हादसा भारतीय इतिहास में पहली बार नहीं हुआ था। आप जरा नजर घुमाओ जी, तो पता लगेगा कि एक संप्रदाय ने दूसरे संप्रदाय को पछाड़ कर ही इस देश में अपना मार्ग प्रशस्त किया है। वैदिकों को बौद्धों ने पछाड़ा, बौद्धों को हीनयान-महायान ने, फिर नाथ-वाथ संप्रदाय के झगड़े शुरू ही हुए थे कि इधर गुप्त काल आते आते वैष्णव-धर्म ने खुद में नयी जान फूंकी और देखते ही देखते इसकी अनगिनत शाखाएं फूट पड़ीं जी। हालांकि गैर-वैष्णव सम्प्रदायों का अब भी जोर था लेकिन फिर अपने शंकराचार्य आ गए जी। उन्होंने चार शक्ति पीठ बनाये और बहुत कम उम्र में चल बसे। इसके बाद फिर अपना इस्लाम आया जी। कुछ लोगों का मानना था कि वह तलवार के जोर पर आया लेकिन बहुतों ने कहा कि नहीं, इस्लाम और सूफीवाद इस देश में वैसे ही सहज रूप में आएँ और पनपे जैसे सभी धर्म पनपे। फिर इसाई धर्म भी अंग्रेजी राज में फलाफूला। वैसे इस्लाम और ईसाइयत का इस देश में इतिहास हजार साल से भी बहुत पहले का रहा है जी। उनमें भी कई आपसी झगड़े हुए। सूफियों की तो चार बड़ी धाराएँ फूटीं। खैर, अब यह बंदा हिंदी का विद्यार्थी रहा है जी इतिहास का नहीं, कि तारीखें लेकर बैठ जाए कि फलां समय में फलां धर्म और संप्रदाय ने फलां फलां झगड़े किये और फिर इसकी वजह से फलां-फलां झगड़े हुए। कुल मिलाकर कहना यह है जी कि जब से ये धर्म और संप्रदाय रहे हैं उनमें बाहरी-भीतरी उठापटक होती रही है जी। जब देश आजाद हुआ तो संविधान ने इन्हें कहा कि रहना हो तो शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में रहो वरना कट लो यहाँ से। अब संविधान ही सबसे बड़ा धर्म बन गया जी और सर्वोच्य न्यायलय इसका मुख्य पुजारी। लो कल्लो बात।

खैर बंदा ज्यादा भटकाएगा नहीं। बात ऑरकुट फेसबुक, ट्वीटर और व्हाट्सअप सम्प्रदायों की है तो बात वही तक रहेगी जी। पर जोड़ना तो पड़ता है जी। अब आप ही देख लो, जो राजा जिस धर्म और जिस संप्रदाय का समर्थक रहा है उस धर्म और संप्रदाय के विकास में कुछ तेजी आई हैं ऐसा इतिहासकारों मानना है, मेरा नहीं। पर इतिहास में ऐसे सम्राटों को महान् कहा गया जी जिसने सबका बराबर ध्यान रखा। चतुर राजाओं ने तो सभी धर्म और सम्प्रदाओं को अनुदान दिया। देख लो जी, मैं ये इशारे बिलकुल भी नहीं कर रहा हूँ कि देश और दुनिया की सभी राजनितिक पार्टियाँ और सरकारें फेसबुक, ट्वीटर और व्हाट्सअप संप्रदाय में अपना-अपना निवेश कर रहीं हैं ताकि जनता के बीच उनकी प्रासंगिकता समझी जाती रहे। मैं तो अपने प्यारे ऑरकुट-बाबा की विदाई को याद करके रो रहा हूँ श्रीमानजी और आप है न कि पता नहीं कब से क्या क्या समझे जा रहे हैं।

मुझे बस इतना कहना था कि इस मुए फेसबुक-संप्रदाय में इतना कुछ नया आ गया और वह जमाने के हिसाब से इतना अपडेट हो गया कि ऑरकुट बाबा को

लोगों ने श्रद्धांजलि दे डाली। शासन-प्रशासन ने भी उनकी सुध ना ली जी। बड़ा दु:ख हुआ जी मुझे। इधर फेसबुक के तुरंत बाद ट्वीटर आ गया जी और उसके पीठ पीछे अपना व्हाट्सअप। अब इसी अफरातफरी में मैं ऑरकुट बाबा तक पहुँचने का पासवर्ड भूल गया। तब से लेकर आज तक बाबा जी के दर्शन नहीं हुए, बेचारे गुम हो गए जी।

पर बात यहीं खत्म नहीं होती। वो संप्रदाय वाली बात मेरे मन में अभी तक अटकी हुई है। एक कविता है न जी "याद आती है वह पिकनिक की शाम, तुम्हारे दांतों में फंसा हुआ तिनका, अब भी मेरे सपने में चुभता है"। तिनके को तिनका ना मानो जी, भाला मानो जो इस बन्दे के सपने में चुभता है कि पुराने सम्प्रदायों की एक बड़ी खासियत थी, वह थी विश्वसनीयता। वे लड़ते झगड़ते रहते थे, अपने अपने तत्व-दर्शन के कुछ उग्र प्रचारक भी थे जी और उसका खूब प्रचार करते थे लेकिन झूठ नहीं बोलते थे जी। एक के लिए जो सच था वह दूसरे के लिए झूठ हो सकता था लेकिन सांगठनिक स्तर पर, अपने प्रबंधन के स्तर पर वे मूल रूप से झूठ के प्रचारक नहीं थे, सादगी के जरूर थे, चाहे कसम लेलो। जिसने जिसने झूठ बोला, मर्यादाएँ तोड़ीं वो खुद अप्रासंगिक होता गया और जनता भी साथ छोडती गई जी। आजाद देश में ये झगड़े जब भी लक्ष्मण-रेखा लांघते हैं देश का मुख्य-धर्म और उसके मुख्य-पुजारी मतलब संविधान और सर्वोच्च-न्यायालय आ खड़े होते हैं जी कि "अब बोलो"। लेकिन ये जो नए संप्रदाय खड़े हो गए हैं न जी सोशल मीडिया के नाम पर, इनपर भी इनको बोलना चाहिये जी। बंदा अभी तक यही सोचकर परेशान हो रहा है कि क्या पुराने सम्प्रदायों ने हमारे डाटा बेचे थे जी? क्या उस वखत ट्रोल भी होता था जी? खैर, मेरी ही गलती है जी जो आपको उलझा रहा हूँ, पुराने की कसौटी पर नए को क्या परखना?

पर बात फिर वही आकर अटक जाती है जी कि अब एक आजाद देश का जिन्दा संविधान है हमारे पास और हम हैं कि ट्रोल हुए जा रहे हैं, गालियां बके जा रहे हैं, सरेआम धमकियाँ ली-दी जा रहीं हैं। झूठी सूचनाएँ और वीडियो-क्लिप लोगों को दहला रहे हैं। ये कैसा संप्रदाय खड़ा हो गया है बड्डे प्रा?वो भी देखते ही देखते। मुझे तो साफ लग रहा है जी कि इन सम्प्रदायों के चक्कर में हम फिर फंस गए हैं जी और इस बन्दे को ऐसा भी लगता है कि मुख्य-पुजारी हमें मुख्य-धर्म की याद दिलाना भूल गया है जी। कोई कायदा ही नहीं है जी।

और तो और कोई फेसबुक दी गड्डी चला रहा है कोई ट्वीटर दी तो कोई व्हाट्सअप दी। कुछ तो ऐसे भी हैं जी, जो तीनों ही गड्डी इकटठे चला रहे हैं। अब एक बंदा तीन तीन संप्रदाय की भक्ति करेगा तो घर जरूर फूँक जाना है जी, आप लिख लो। ऊपर से यह व्हाट्सअप संप्रदाय, इसके तो क्या कहने। ये मुआ हमारे

जीवन में बहुत भीतर उतर कर हमारा सारा समय कुतर रहा है। ये किस युग में आ गए हम, डिजिटल रियल हो गया और रियल पता नहीं जी कहाँ गुम हो गया मेरे ऑरकुट बाबा की तरह? कहीं ऐसा नों हो कि जिस तरह से यह बंदा अपने बाबा जी का पासवर्ड भूल गया और आजतक उनसे मुलाकात नहीं हुई, कोई जीवन का पासवर्ड ही ना भूल जाए।

मेरा दोस्त दलजीत अक्सर कहता है जी। ओजी यही कहता है जी कि जब सड़कें खराब होती हैं ना और उनमे गड्ढे होते हैं तो गड्डी हौले-हौले चलानी चैये। ओजी खुद ही ब्रेक लगाओ इन सबों पर तब तक। ना जी ना, मैं संप्रदाय छोड़ने की बात नहीं कर रहा हूँ जी। गलत ना समझना। हम सिटीजन से नेटीजन बने हैं, अब गंगा तो उल्टी बहनी नहीं है। मैं तो कह रहा हूँ कि समय-समय पर इसमें ब्रेक लगाओ जी और यदि ब्रेक ना लगा सको तो ये संप्रदाय जो भी लगातार अपने मन्त्र पढ़ा-दिखा रहे हैं ना जी, आप ही के अपनों के मार्फत, उनकी पहले जांच करो जांच। पहले सोचो और तब शेयर करो जी। मैं जानता हूँ जी कि इन सम्प्रदायों का हिस्सा बनने वालों में सब नहीं तो ऐसे बहुत हैंगे जो कहीं ना कहीं अपने विचार की लड़ाई लड़ते रहते हैं, पर यह भी ध्यान रखो जी कि कई बार जानबूझ कर कुछ लड़ाइयाँ लगवाई जाती हैं, झूठी लड़ाइयां। कुछ लड़ाइयाँ तो प्रायोजित अफवाहों और पेशेवर डिजिटल बाहुबलियों के सहारे लड़ी जा रहीं हैं, याद रखो। याद तो यह भी रखना होता है जी कि आपका 'आइडिया' जितना महत्वपूर्ण होता है 'आइडियल' व्यवहार भी उतना ही। पर यहाँ दूसरों की सुनता कौन है। अब यह भी है कि आखिरी समाधान नाम की कोई चीज तो है नहीं जी मेरे पास। जो समझ में आया बन्दे ने लिख मारा। अगर आपके पास को कोई समाधान हो तो जरूर बताना जी मुझे। बंदा यही रहता है, ठीक आपके बगल में।

हाथ

उसका हाथ
अपने हाथ में लेते हुए मैंने सोचा
दुनिया को
हाथ की तरह गर्म और सुन्दर होना चाहिए।

केदारनाथ सिंह
साभार

परफेसर साहेब

डॉ. विनोद चौबे
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

मेरे एक मित्र हैं नाम है–छोड़िए नाम का क्या करना बस इतना काफी है कि हम सब उन्हें परफेसर साहेब कहके बुलाते हैं। मजाक में नहीं सीरियसली। वे परफेसर यानी प्रोफेसर हैं भी किसी बिरसा मुंडा विश्वविद्यालय में सिर से पाँव तक प्रोफेसर। थोड़ी लंबी दाढ़ी, आधी श्वेत, आधी श्याम, खिचड़ी बाल लेकिन करीने से सजे हुए, आँखों के नीचे थोड़ी श्यामलता शायद रात–रात भर जागकर पढ़ने–लिखने की वजह से है। मोटे लेंस का चश्मा जब चढ़ा होता है तब नेत्रों की श्यामलता थोड़ी ढक जाती है। कंधे से कमर तक झूलता हुआ झोला या कभी–कभी हाथों में दो तीन मोटी–मोटी किताबें। शायद हिंदी के प्रोफेसर हैं।

मेरे मित्रों का यह मानना है कि प्रोफेसर के पद पर नियुक्त होते ही आदमी ज्ञानी नहीं महाज्ञानी हो जाता है। कुछ लोगों का तो यह भी मानना है कि त्रेतायुग में ब्रह्मा जी का सिर जब ज्ञान के बोझ से दुखने लगा तब उन्होंने अपने मस्तिष्क के कटोरे से थोड़ा ज्ञान निकालकर मानस पुत्र नारद की रचना की। फिर भी ढेर सारा ज्ञान उनके मस्तिष्क के महाकोश में अब भी उल्कापात कर रहा था तब कुछ ज्ञान और कलाओं को मिक्स करके उन्होंने सरस्वती की सर्जना की फिर भी उनका सर दर्द से फटा जा रहा था। माइग्रेन असह्य था तब इस पीड़ा से मुक्ति का अचूक उपाय उन्हें याज्ञवल्क्य जी से मिला। ब्रह्मा जी ने आव देखा न ताव, मस्तिष्क के कटोरे में बचा ज्ञान कुछ मनुष्यों की खोपड़ी में डाल दिया यही जीव प्रोफेसर कहलाए। ब्रह्मा जी तो माइग्रेन की पीड़ा से सदा–सर्वदा के लिए मुक्त हो गए लेकिन हम निरपराधों के लिए जो पीड़ा का सामान छोड़ गए उन्हें ही हम श्रद्धावश 'परफेसर साहेब' कहते हैं। ये परफेसर साहब जिस–जिस के पल्ले बँधे वे आज भी माइग्रेन से मुक्ति या मोक्ष के लिए छटपटा रहे हैं।

इस दुनिया में हर रोग का इलाज हो शायद ये प्रोफेसर तेरा कोई ईलाज नहीं। इन प्रोफेसरों में भी कई कटेगरी है–एम.फिल. मतलब मास्टर ऑफ फिलॉस्फी, पी.एच. डी मतलब डॉक्टर ऑफ फिलॉस्फी मतलब हर हाल में फिलॉस्फी। पहले से हम पढ़ते आए हैं कि भारत एक कृषक प्रधान देश है। हम सभी मानते हैं, मानते आए हैं। इस बात में हमें जरा भी संदेह नहीं है किंतु परफेसर साहब इसमें भी डाउट ला देते हैं। उनके अनुसार दाउट से ही साइंस पैदा हुआ है। डाउट ही अन्वेषण का मूल है। इसलिए हर चीज में डाउट करो। परफेसर साहब डाउट करते हुए अपना एक्सपर्ट

कमेन्ट देते हैं–''भारत एक कृषक प्रधान देश था परंतु अब भारत एक ठरक प्रधान देश बन चुका है।'' सभी हँसते हैं जिन्हें बात समझ में आ जाती है वे कम जिन्हें समझ नहीं आती वे ज्यादा हँसते हैं। वाह–वाह करते हैं। मजलिस आगे बढ़ती है। परफेसर साहब से आप किसी भी विषय पर चर्चा कर लें–ज्ञान, विज्ञान, हाईकमान, आयुर्वेद, वेद, उपनिषद पुराण, मनुस्मृति, भारतीय संविधान, पाक कला, सौंदर्य प्रसाधन कला हस्तकला, सद्यः प्रसूति महिला का पथ्य, षोडशी बाला की व्याकुलता, खेलकूद, फिल्म, राजनीति, प्रोफेसर साहब हर जगह अंगद की तरह अपना पाँव रोप देते हैं, टंगड़ी फँसा देते हैं और मजलिस में जान आ जाती है। परफेसर साहेब के ज्ञान का लोहा हर कोई मानता है। बातों की लकड़ी को रंदे से छीलना कोई उनसे सीखे। एक बार, कामायनी पढ़ाते हुए उन्होंने 'स्त्री–पुरुष संबंध' में सौंदर्य का महत्व' विषय पर बोलते हुए कहा कि स्त्री–पुरुष का संबंध नैसर्गिक है, सहज है यह आनंदमय है, ब्रह्म भी आनंदमय है और यह चिन्मय है। सौंदर्य प्रेम का उद्दीपक है। सब कामना है। कामना कामजनित है। यह कामदेव का डिपार्टमेंट है। काम सृष्टि का मूल है इसलिए कामयोगी बनो, काम में लगे रहो। आराम हराम है। काम में लग जाओ। विद्यार्थी परफेसर साहब को देखता रह जाता है इससे पहले कि रंदा और छीले स्टूडेंट अपनी खोपड़ी बचाकर पतली गली से सरक लेता है।

परफेसर साहेब कवि हैं नाटककार भी हैं, कथाकार हैं, वक्ता हैं, गीतकार है, कलाकार हैं। इतने सारे कार हैं पर उनके पास एक कार नहीं है वे अब भी आज भी बेकार है। हम उन्हें छेड़ते हैं। आप तो आज भी चप्पल में पदयात्रा कर रहे हैं। वे कहते हें–पदयात्रा से समाजवाद आएगा। पाँव जमीन पर होने चाहिए। लोगों के पास कार है–मेरे पास कार नहीं है तो क्या हुआ– संस्कार तो है। संस्कार नहीं होगा तो आदमी कार में बैठकर भी पिट जाएगा। परफेसर साहब के अनुसार मतभेद विद्वानों के बीच होते हैं– मूर्खों के बीच नहीं। यानी एक नदी के ऊपर आप पुल बनाना चाहते हैं और मैं भी पुल बनाना चाहता हूँ और हम दोनों मिलकर पुल बनाने चाहते हैं यानी हम इस बात पर एकमत हैं कि हम पुल बनाना चाहते हैं तो हम मूर्ख है। हमारे बीच मतभेद जरूरी है। नहीं भी है तो पैदा कर दो वरना लोग हमें विद्वान समझना छोड़ देंगे। इसी धारणा की वजह से परफेसर साहेब लोग हर विषय पर मीटिंग में मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना की स्थिति पैदा कर देते हैं और मीटिंग बेनतीजा होकर अगले मीटिंग की संभावना में बदल जाती है और इस तरह तारीख पर तारीख तारीख पर तारीख के चक्कर में मुद्दे खुद एक तारीख बनकर रह जाते हैं और उन्हें भी मिलती है एक तारीख पर जज साहब इंसाफ नहीं मिलता। मेरा कतई यह इरादा नहीं है कि मैं आपको 'दामिनी' फिल्म के डायलॉग्स सुनाऊँ पर परफेसर साहब का यह दावा है कि उनके पास अगर पैसे होते और बेशुमार होते तो वे 'पद्मावत' से भी हिट फिल्म

बनाकर दिखा देते। वे कहते हैं परफेसरी कोई नौकरी नहीं है यह तो वरदान है। तैतीस करोड़ देवी-देवताओं में से अगर किसी एक को भी आपने प्रसन्न कर लिया तो वरदान स्वरूप परफेसरी मिल सकती है। यह नौकरी नहीं वरदान है और प्रोफेसर तो नक्षत्रों से नादानी में फेंक दी गई अनमोल मणि है जिसकी चमक आचार्य चाणक्य के भाल की चमक जैसी होती है ऐसे तेजस्वी, मनस्वी, वक्ता, अधिवक्ता को शत-शत कोटि नमन है।

आजकल अक्सर प्रोफेसर को एक खास किस्म की बीमारी लग गई है। हर प्रोफेसर ऐसा आडंबर रचते हैं विद्वता का ऐसा आतंक जमाते हैं कि सामने वाला बस अवाक् देखता रह जाता है। सब का दावा है वे बनना तो कलक्टर चाहते थे- यू. पी.एस.सी. का प्रिलिम्स या मेन तो क्वालिफाई कर लिया था किंतु.... चलो वैसे तो परफेसरी से कई-कई गुना ज्यादा प्रतिभा का धनी हूँ मैं पर फिर भी परफेसरी भी क्या बुरी है। ऐसा भाव, कई बार परफेसर साहब को परेशान कर देता है। वो कहते हैं अरे यार तुम प्रोफेसर हो तो गर्व करो। लीव लाईक प्रोफेसर, थिंक लाईक प्रोफेसर, स्पीक लाईक प्रोफेसर एंड बिहेव लाइफ प्रोफेसर। यह जो प्रोफेसरी में एक लंपटगिरी चल गई है कि हर प्रोफेसर खुद को एक बड़े प्रोटोकॉल से हॉट लाईन पर जुड़ा हुआ साबित करता चल रहा है और इस तरह पूरे महाविद्यालयी शिक्षा परिवेश में छद्म सत्ता का तिलस्मी रूप दिखने लगा है। इस पर परफेसर साहब कहते हैं। भई परफेसर लोग देवलोक से फेंकी गई मणि हैं और देवताओं का काम ही रहा है- माया को फैलाना तो परफेसर साहब अगर माया फैला रहे हैं तो इसमें अनुचित क्या है? परफेसर साहेब खुद प्रशंसा कृपण है किंतु अगर कोई उनकी झूठी तारीफ भी कर दे तो वे हवा भरकर अपनी छाती को ऐसे फुला लेते हैं जैसे समुद्र लंघन के ठीक पहले हनुमान जी ने खुद की छाती हवा भरकर फुला ली थी।

परफेसर साहब को नाम पर पूरा भरोसा है- कलयुग केवल नाम अधारा। इसलिए उन्होंने अपना नाम चिन्मयमूर्ति दत्तात्रेय से बदलकर चेन.माई.स्टेच्यू ट्रिपल दत्ता रख लिया। इसीलिए वे बोलते वक्त बड़े-बड़े नामों का हैंड ग्रिनेड बीच-बीच में फेंकते रहते हैं। जैसे- हीगेल युग सार्त्र, काफ्का, कामू, फ्रॉयड, रस्किन, दिदारों, इनारो, भूसो, रूसो, धूसो, टॉलस्टाय, ये रोय वो राय टाटा बाय-बाय। विद्यार्थी इन नामों के आतंक के साये में जीने को अभिशप्त हैं-

कोई मौशिकी में माहिर
कोई आशिकी में अनाड़ी
जो वजूद बनाता है
वही सच्चा है खिलाड़ी

परफेसर साहेब ने अपने डाउट से, अपने ज्ञान से, अपने मतभेद से और अपने स्वेद से ज्ञान की इस बगिया को सींचा है। उनके इस संघर्ष को केवल नूराकुश्ती न समझें। परफेसर साहब दलितों के मसीहा हैं आप आजतक गतिशील नहीं हो सके, वे प्रगतिशील हैं। आप ठीक से पढ़ नहीं पाते वे पढ़ने की तमीज सिखाते हैं। आप ठीक से लिख नहीं पाते, वे लेखक हैं। दो पंक्तियाँ सुनाने में आपके गर्दन की नस प्रत्यंचा की तरह खिंच जाती है और वे ऐसी पंक्तियों की सर्जना करते हैं। आप प्रतिदिन समाचार नहीं देखते, वे समाचारों की, विकास प्रक्रिया की, रोज होने वाली हर हलचल का हिसाब किताब रखते हैं। ये आपका सौभाग्य है कि देवताओं ने अनजाने में ही सही दीवाली में घर का कबाड़ बाहर फेंकते हुए गलती से एक मणि फेंक दी थी जो परफेसर के रूप में आज भी चमक रही है वरना आप अंधेरे में होते। ज्ञान आपको छू तक नहीं गया होता। यह सब मेरे मुख से सुनकर परफेसर साहेब गदगद हो जाते हैं किंतु आजकल परफेसर साहेब इस बात से खासे चिंतित दिखाई पड़ते हैं कि आजकल स्टूडेंट पढ़ाई-लिखाई को लेकर उतना सीरियस नहीं है। स्त्री-पुरूष संबंधों में उच्छृखलता आ गई है। बच्चों का भाषाज्ञान इतना पुअर है कि.... परफेसर साहब के तेजोमय ललाट पर चिंता की रेखाएँ खिंच जाती हैं। शायद वे कह रहे हैं-

मणि अब भी कबाड़ में ही है और अगर धूल नहीं झाड़ी तो धीरे-धीरे मणि की चमक गायब हो जाएगी और वह पत्थर के टुकड़े से ज्यादा नहीं रह जाएगी। परन्तु परफेसर साहब को पूरा विश्वास है कि राष्ट्र-निर्माण होगा, विकास आएगा अच्छे दिन आएंगे और देखना परफेसर साहब के भी दिन वापस आएंगे। जो पढ़े-सुने उनके मनोरथ पूर्ण हो। जैसे उनके दिन फिरे आपके भी फिर जाएँ। बोलो परफेसर साहेब की जय!

क्रमशः

खुला है झूठ का बाज़ार

खुला है झूठ का बाज़ार आओ सच बोलें
न हो बला से ख़रीदार आओ सच बोलें
सुकूत छाया है इंसानियत की क़द्रों पर
यही है मौक़ा-ए-इज़हार आओ सच बोलें
हमें गवाह बनाया है वक़्त ने अपना
ब-नाम-ए-अज़्मत-ए-किरदार आओ सच बोलें
सुना है वक़्त का हाकिम बड़ा ही मुंसिफ़ है
पुकार कर सर-ए-दरबार आओ सच बोलें

क़तील शिफ़ाई
साभार

आनंद रंगा पिल्लईः एक भारतीय डाइरिस्ट

डॉ. संदीप कुमार वर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग

अठारहवीं सदी भारतीय इतिहास में कई परिवर्तनों के कारण महत्त्वपूर्ण है जैसे कि इस दौर में विदेशी व्यापारिक कंपनियाँ अब सिर्फ व्यापार और वाणिज्य में संलग्न नहीं थीं अपितु अब वह भारतीय उपमहाद्वीप के राजनैतिक मामलों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर रही थीं। जिसके कारण जल्द ही यह कंपनियाँ औपनिवशिक शक्तियों के रूप में स्थापित हुईं। यूँ तो भारतीय इतिहास में इन कंपनियों के इतिहास ने, विशेष रूप से ब्रिटिश कंपनी, इतिहासकारों का काबिल ध्यान आकर्षित किया है, परन्तु फ्रांसिसी कंपनी के सन्दर्भ में यह बात सही प्रतीत नहीं होती। इसके अलावा, भारतीय साहित्यिक संस्कृति के संदर्भ में ब्रिटिश इतिहासकारों की यह धारणा रही है कि भारतीयों में इतिहास का बोध न के बराबर था और मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के बाद 'इतिहास' के लेखन का कार्य प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा दिया गया यह मत कई प्रकार से उनके साम्राज्य की स्थापना के लिए एक राजनैतिक औजार था। जैसे कि एक तरफ इसके माध्यम से वह हिन्दू-मुस्लिम के आधार पर भारतीय समाज को बाँटने में सक्षम हुए, वहीं दूसरी तरफ वह अपनी श्रेष्ठता थोपने में भी कामयाब हुए, जो कि 'व्हाइट मैन बर्डन' की धारणा से ग्रसित थी जिसके द्वारा वह विश्व को सभ्य बनाने के एजेंडे और विक्टोरियन आदर्शों को दुनिया पर थोपना चाहते थे। हाल ही में भारतीय इतिहासकारों ने बड़े स्तर पर इस प्रकार की विचारधाराओं को कई संदर्भो में चुनौती दी है, जिसमें प्रमुख हैं संजय सुब्रमण्यम, पार्था चटर्जी, वेल्चेरु नारायण राव, डेविड शूलमन, कुमकुम चटर्जी इत्यादि[1].

यह निबंध दो मुख्य मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करेगा, पहला, आनंद रंगा पिल्लई द्वारा लिखित 'डायरी' की ऐतिहासिक महत्ता की चर्चा करते हुए यह दिखाने के प्रयास करेगा कि अठारहवीं सदी के भारत के इतिहास लिखने में यह किस प्रकार महत्त्वपूर्ण है। विशेष रूप से दक्षिण भारत के सन्दर्भ में समुद्री, वाणिज्य और राजनैतिक इतिहास; दूसरा, भारतीय व्यापारियों और पांडिचेरी में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यावसायिक संबंधों के बारे में एक सूक्ष्म स्तर का शोध भी है। औपनिवेशिक काल के शुरूआती दौर में आनंद रंगा पिल्लई जैसे लोगों की क्या भूमिका थी, या यूँ कहें कि भारतीय व्यापारी किस प्रकार के विभिन्न कार्यो में

संलग्न थे और यूरोपियन व्यापारिक कंपनियों की कार्यविधियों में उनकी क्या भूमिका थी, विशेष रूप से फ्रेंच ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ।

I

औपनिवेशिक पूर्वाग्रह ग्रसित इतिहास और साहित्य संस्कृति की दलील को नजरअंदाज करके देखा जाए, तो इस बात में कोई दो राय नहीं है कि प्रत्येक समाज में इतिहास, उसका बोध और साहित्य उसी के संदर्भ में विकसित होता है इसलिए उसे उसी वातावरण में रखकर अध्ययन करना चाहिए जिसमें उसका विकास हुआ है, अन्यथा ऐतिहासिक अध्ययन की कसौटी रखी नहीं होगी। यदि इस प्रसंग में औपनिवेशिक कालीन इतिहास को देखें तो उसे उसी प्रकार से खारिज किया जा सकता है जिस प्रकार से उन्होंने भारतीय इतिहास को खारिज करने के निरंतर प्रयास किये हैं। हिंदुस्तान में इतिहास-लेखन की बहुआयामी परंपराएँ विभिन्न भाषाओं और शैलियों में प्राचीन-काल से मध्य-युग होते हुए आधुनिक दौर तक दिखाई पडतीं हैं।

इसी सन्दर्भ में, डुप्ले के प्रसिद्ध कोर्टियर और व्यापारी आनंद रंगा पिल्लई ने पांडिचेरी और भारत में फ्रांसीसी इतिहास के लिए मूल्यवान दस्तावेज छोड़े हैं। उनमें से, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एक डायरी (या जर्नल) है जो कि सन् 1736 से 1760 ई॰ तक के दौरान के इतिहास के बारे में जानकारी प्रदान करती है। हालांकि यह पूर्ण रूप से अभी उपलब्ध नहीं है क्योंकि उसमें कई प्रकार की कमियाँ हैं, परन्तु फिर भी यह समकालीन घटनाओं के बारे में भारतीय पर्यवेक्षक के द्वारा दिए गए विचारों और भावनाओं का एक बेहतरीन संदर्भग्रंथ है, जिसमें जहाँ तक संभव हो सकता है, भारतीय दृष्टिकोण को सामने रखने का प्रयास किया गया है। इसका महत्त्व इस बात में भी है कि इसका प्रयोग फ्रांसिसी दस्तावेजों के समक्ष रखकर भी किया जा सकता है जिससे कि एक ऐसा इतिहास लिखा जा सके जो कि दोनों दृष्टिकोणों का समावेश करता हो।

ऐसा कहा जाता है कि इस डायरी को 1846 ई॰ में गैलोइस मोंटब्रुन द्वारा खोजा गया था, तथा यह पूरी नहीं थी, तो 1736-60 ई॰ के वर्षों में, दिन-प्रतिदिन की गई प्रविष्टियों के फोलियो में केवल 13 रजिस्टर मौजूद थे, उस में उन सभी तथ्यों और घटनाओं का विवरण है जो पिल्लई ने उस समय देखा और सुना। एक व्यापक सीमा तक यह डायरी लेखन का आँखों देखा विवरण भी है।

1892 ई॰ में, पांडिचेरी में उपलब्ध रंगा पिल्लई की डायरी की दूसरी प्रति मद्रास सरकार के रिकॉर्ड ऑफिस में रखी गई थी। यह प्रतिलिपि जो मद्रास में है, जिसका अनुवाद मद्रास सरकार द्वारा 12 खंडों में अंग्रेजी प्रकाशित करवाया गया है

– पहले तीन खंड सर जे. एफ. प्राइस द्वारा और बाद के नौ खंड प्रोफेसर एच.एच. डोडवेल द्वारा संपादित किये गए हैं। दूसरी प्रतिलिपि 1852 ई॰ में एम एरियल द्वारा मूल रूप से बनाई गई, जो अब पेरिस की राष्ट्रीय पुस्तकालय के तमिल संग्रह का हिस्सा है।

आनंद रंगा पिल्लई की डायरी पांडिचेरी में फ्रांसीसी और भारतीय व्यापारियों की व्यापारिक गतिविधियों का अध्ययन करने के लिए एक अमूल्य स्रोत है। यद्यपि इस डायरी में कई खमियाँ हैं, जैसे डायरेस्ट का पूर्वाग्रह और साथ ही साथ डायरिस्ट की जहाजों, वस्तुओं आदि के बारे में सटीक डेटा रिकॉर्ड करने में अक्षमता आदि। फिर भी इन कुछ कमियों के बावजूद, डायरी अधिक विश्वसनीय और सूचनात्मक साबित हुई है। यह भारतीय व्यापारियों और उनकी गतिविधियों के बारे में पर्याप्त जानकारी प्रदान कराती है। भारतीय व्यापारियों के बारे में ज्ञान के अलावा, डायरी फ्रांसीसी व्यापार से निपटने के बारे में जानकारी प्रदान करती है, जैसे व्यापार वस्तुओं का चयन, भारतीय व्यापारियों और कारीगरों के प्रति उनके व्यवहार आदि।

यह डायरी कोरोमंडल पर होने वाली राजनीतिक और आर्थिक गतिविधियों के बारे में जानकारी देती है क्योंकि डायरेस्ट के आसपास के क्षेत्रों में उनके जासूस और एजेंट थे। राजनीतिक इतिहास के दृष्टिकोण से, यह डायरी उस अवधि के इतिहास के बारे में बारीक जानकारी देती है जो कि निसंदेह मूल्यवान है, जिस दौरान यह संघर्ष चल रहा था कि भारत पर पेरिस या लंदन में से किसका प्रभुत्व होगा, इन वर्षों के बड़े हिस्से के दौरान, दक्षिण भारत और कोरोमंडल तट में निरंतर अंग्रेजी और फ्रांसिसी सेनाओं के मध्य संघर्ष चल रहा था। साथ ही साथ यह यूरोपियन देशों के भारतीय स्थानीय राजाओं, नवाबों और निजामों के मध्य संघर्ष और संधि के आयामों के बारे में भी सटीक जानकारी प्रदान करती है। इस प्रकार डायरी जहाँ एक तरफ मुगल साम्राज्य के पतन और स्थानीय राज्यों के उदय का विवरण देती है, वहीं दूसरी तरफ यूरोपियन साम्राज्य के स्थापित होने की प्रक्रिया के बारे में सटीक जानकारी देती है। डायरी का पहला भाग 1736-45 साल को व्याख्यायित करता था, जिसमें रंगा पिल्लई काफी हद तक केवल एक दर्शक था; लेकिन 1746 से 1760 तक चलने वाले दूसरे भाग में, जिस दौरान फ्रांसीसी कंपनी के राजनीतिक जीवन से रंगा पिल्लई एजेंट के रूप में गहराई से जुड़ा हुआ था, उसकी प्रविष्टियाँ फ्रेंच सरकार और उसके कर्मों के साथ अधिक प्रत्यक्ष और सक्रिय सहयोग दिखाती हैं। डायरी का दूसरा भाग लेखक के अनुभव और परिपक्वता की एक विकसित तस्वीर प्रस्तुत करता है। डाइरिस्ट केवल परिचय नहीं अपितु उन व्यक्तियों के बारे में वर्णनात्मक स्केच देता है जिनके साथ वह संपर्क में आया था, डुप्ले, उसके उत्तराधिकारी और पांडिचेरी सरकार के बारे में समृद्ध और सटीक जानकारी भी प्रदान करता है।

रंगा पिल्लई अपने लेखन में सटीक थे। अपने जर्नल को या तो खोखली अफवाहों के साथ या केवल बाजार समाचार के साथ नहीं लिखते थे, बल्कि वह जो राजनीतिक जानकारी देतें हैं वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने इतिहासकार के उपयोग के लिए अपनी डायरी नहीं लिखी लेकिन मुख्य रूप से अपने उत्तराधिकारी के लिए लिखा "ताकि उनके परिवार की घटनाओं की स्मारिका को अपने समय में कायम रखा जा सके"। रंगा पिल्लई जब भी किसी घटना या व्यक्ति का विवरण देते हैं तो वह घटना की उत्पत्ति और अवलोकन दोनों को गहराई से देते हैं, डायरी की यह विशेषता इसे इतिहासकारों के लिए और अधिक मूल्यवान बनाती है। इस प्रकार वह अपने जर्नल से व्यक्तित्वों के गुणों और दोषों और घटनाओं के उदाहरणों को बहुत सटीक रूप से और प्रचुर मात्रा में मापते हैं। हालांकि यह सभी जानकारियाँ कभी–कभी महत्त्वहीन तथ्यों और आंकड़ों के साथ मिश्रित होती हैं।

II

फ्रांस और भारत के बीच वाणिज्यिक संबंध ऐतिहासिक रूप से उन समूह या समूहों से जुड़े थे जिन्होंने उन्हें बड़े स्तर पर प्रभावित किया था। वे भारतीय व्यापारी और मध्यस्थ थे जिन्होंने फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ व्यापार और वाणिज्य की सुविधा और लेनदेन किया, जो कि अकेली ही प्रारंभिक आधुनिक भारत के स्थानीय / तटीय बाजार में सक्रिय रूप से इन भारतीय व्यापारियों पर निर्भर नहीं थी– प्रचलित ऐतिहासिक भौतिक रूढ़िवादी मानते हैं कि भारतीय व्यापारी केवल पैडलर (फेरीवाले) और मध्यस्थ थे। उन्होंने केवल आधुनिक यूरोपीय भारत में अपने यूरोपीय समकक्षों के साथ व्यापार और वाणिज्य मध्यस्थता की भूमिका निभाई। हालांकि, व्यापक रूप से ज्ञात, इस तरह के युरोसेंट्रिस्म को कई इतिहासकारों द्वारा कई मोर्चों पर चुनौती दी गई है और कभी–कभी अपेक्षाकृत दिनांकित दिखती है। इतिहासकार, विशेष रूप से, अशिन दास गुप्ता, संजय सुब्रमण्यम, कनकलथा मुकुंद, एम.एन. पियरसन इत्यादि ने भारतीय व्यापारियों की वाणिज्यिक दुनिया को प्रकट करने के लिए इस क्षेत्र में सूक्ष्म अध्ययन किए हैं और दिखाया है कि उनकी भूमिकाएं समुद्री व्यापार में यूरोपीय प्रतिभागियों की तुलना में कितनी केंद्रीय और प्रमुख हैं।

बड़े पैमाने पर, प्रारंभिक आधुनिक भारत में, हम भारतीय व्यापारियों को अलग–अलग और सामूहिक रूप से दो व्यापक समूहों में विभाजित कर सकते हैं। उनके कार्यों या भूमिकाओं के अनुसार जो काफी ओवरलैपिंग (अतिव्यापी) थे क्योंकि नियमों का कोई सेट नहीं था या बल्कि वे नियमों के किसी भी सेट का पालन नहीं कर रहे थे। पहला, व्यापारिक गतिविधियों में वृद्धि करके प्रवाह की

आपूर्ति करता है और अतिरिक्त माँग को प्रोत्साहित करता है। उन्होंने कई गंतव्यों के लिए विदेशी और ओवरलैंड मार्गों के साथ व्यापार किया। वे मुख्य रूप से अपनी क्षमताओं के अनुसार वस्तुओं को आयात और निर्यात करने में शामिल थे। अशिन दास गुप्ता ने उन्हें 'शिपर्स' या 'जहाज के मालिक' कहा और उन्हें इस श्रेणी के भीतर वर्गीकृत किया।

दूसरा, उन्होंने खरीदारों और विक्रेताओं के बीच पुल के रूप में कार्य किया। वे व्यापार के फैसिलिटेटर थे। उन्होंने वह सभी सेवाएँ दीं जो व्यापार की समृद्धि के लिए अनिवार्य थी। अशिन दास गुप्ता ने उन्हें तीन समूहों-व्यापारियों, दलालों और सर्राफों में वर्गीकृत किया। हालाँकि यह इतना आसान नहीं है जितना लगता है क्योंकि यह सभी व्यापारिक गतिविधियों में संलग्न थे, भले ही वे मुख्य रूप से व्यापारी नहीं थे। उनके कार्य ओवरलैपिंग थे और इन श्रेणियों के भीतर उप श्रेणियाँ भी थीं, ये सभी मुद्दे हमेशा भारतीय व्यापारियों की भूमिका को भ्रमित और स्पष्ट करते हैं। या फिर ऐसा भी कहा जा सकता है कि एक व्यापारी विभिन्न गतिविधियों में कभी-कभी वाणिज्यिक क्षेत्र से परे भी शामिल था। यह अलग-अलग श्रेणियाँ व्यापार और वाणिज्य की प्रकृति के बारे में भी दिखाती हैं। फ्रांसीसी कंपनी और व्यक्तिगत व्यापारियों की व्यापारिक गतिविधियों के लिए भारत के व्यापारी महत्त्वपूर्ण थे; और साथ ही साथ उन्होंने सक्रिय एजेंटों के रूप में गतिशील भूमिका निभाई; और उनकी एजेंसी औपनिवेशिक सत्ता-संबंधों से घिरी रही। यह रिश्ता एक सहयोगी उद्यम नहीं था बल्कि एक प्रतियोगिता भी थी जो कि कई स्तर पर थी जैसे कि फ्रांसीसी कंपनी और भारतीय व्यापारियों के बीच और पांडिचेरी के भारतीय व्यापारियों के समुदाय के भीतर। व्यापारियों के इस समूह ने अपनी रुचि को संरक्षित करने की कोशिश की। इस प्रक्रिया में, अपने हितों को संरक्षित करने के लिए, एक तरफ उन्होंने कारीगरों और अन्य भारतीय उत्पादक व शिल्पकार वर्ग का कुछ हद तक शोषण भी किया। साथ ही, उन्होंने कभी-कभी अपने प्रतिद्वंद्वी व्यापारियों के खिलाफ औपनिवेशिक राज्य द्वारा प्रदान की गई शक्ति का उपयोग भी किया। और कभी-कभी इन भारतीय व्यापारियों ने कंपनी / औपनिवेशिक राज्य के सामने अपनी एजेंसी को दृढ़ता से व्यक्त किया।

आनन्दा रंगा पिल्लई फ्रांसिसी कंपनी के साथ दुभाषिये की भूमिका में कार्य करते थे। प्रारंभिक आधुनिक भारत में दुभाषिये का कार्य सिर्फ भाषा के अनुवाद से ही संबंधित नहीं था, बल्कि उनके पास अनिवार्य रूप से प्रबंधकीय जिम्मेदारियाँ थीं और प्रत्यक्ष अग्रदूत थे और साथ ही साथ सचिवों और मध्यस्थों जैसे विभिन्न गतिविधियों का प्रदर्शन किया[6]। फ्रांसिसी कंपनी के रोजगार के तहत, उनका मुख्य

कार्य यह सुनिश्चित करना था कि पर्याप्त व्यापारिक वस्तुएं फ्रांसिसी हाथों में जाए, ताकि पांडिचेरी के बंदरगाह को छोड़ने वाले जहाजों को पूरी तरह से कपड़े और अन्य वस्तुओं के साथ भंडारित किया जा सके, जिसे यूरोपीय बाजारों में बेचा जाता था। इस प्रक्रिया में दुभाषिया क्षेत्रीय व्यापारियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता था ताकि माल की आपूर्ति की जा सके, इसके अलावा वह खेती के संचालन और कारीगर केंद्र भी स्थापित करने के लिए जिम्मेदार था, जहाँ कच्चे माल और वस्तुओं का उत्पादन किया जाता था। वह कंपनी और व्यापारियों, बुनकरों और अन्य लोगों के बीच एकमात्र लिंक था जिन्होंने फ्रांसीसी कंपनी को माल की आपूर्ति की जाती थी और आयातित वस्तुओं को खरीदा जाता था। वह कंपनी द्वारा रीदी और बेची जाने वाली सभी वस्तुओं की कीमत भी तय करता था।

आनन्दा रंगा पिल्लई का जन्म 30 मार्च 1709 को मद्रास के उपनगर पेरामंबुर में हुआ था, जिस शहर में उनके पिता तिरुवेन्गादा पिल्लई एक व्यापारी थे। 1716 के शुरुआती हिस्से में, तिरुवेन्गादा पिल्लई मद्रास के कुछ अन्य अमीर और प्रभावशाली व्यापारियों के साथ स्वयं को पांडिचेरी में स्थापित किया जो की कोरोमंडल तट के एक नया उभरता हुआ शहर था। 1726 में तिरुवेन्गादा पिल्लई की मृत्यु के बाद, उस समय के गवर्नर, म. लनवार ने रंगा पिल्लई को आशाजनक युवा व्यक्ति मानते हुए पोर्टो नोवो में कपड़े के फ्रांसिसी कारखाने का प्रमुख नियुक्त किया जिस पद पर उसके पिता नियुक्त थे[8]। पोर्टो नोवो चीन और मनीला से वस्तुओं के आयात का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र था। यह जगह घोड़े के व्यापार के लिए भी प्रसिद्ध थी; पोर्टो नोवो में विभिन्न स्थानों से घोड़ों को आयात किया जाता था, जहाँ से फ्रांसिसी उन्हें खरीदते थे। वहाँ, पिल्लई को कंपनी के जहाजों को लोड करने के लिए प्रभारी बनाया गया था; और न केवल कंपनी के लिए बल्कि फ्रांसीसी निजी व्यापारियों के लिए पर्याप्त व्यापारिक वस्तुएँ सुरक्षित करना भी उसके कार्य का मुख्य हिस्सा था। पोर्टो नोवो के बुनकरों के साथ आनंद रंगा पिल्लई के संबंध काफी अच्छे थे। एक उदाहरण के रूप में यह देखा जा सकता है कि जब कंपनी पोर्टो नोवो से सामान नहीं खरीदना चाहती थी तब पिल्लई ने पहले से ही बुनकरों को अग्रिम कर दिया था, जिसके परिणामस्वरूप, उसके प्रभाव के कारण, उन्होंने बुनकरों को अपने पक्ष में लिया और सामग्री प्राप्त करने को स्थगित कर दिया। अपने निजी व्यापार और फ्रेंच वाणिज्य के आगे विस्तार के लिए, उन्होंने लालपेटाई और आर्कोट में अपनी लागत पर व्यापारिक केन्द्रो की स्थापना की, जो जल्द ही यूरोपीय वस्तुओं के व्यापार के लिए आदान-प्रदान के केंद्र बने। फिर उसने स्थानीय बाजार में इन यूरोपीय सामानों को बेचा, जो उसकी आय का एक बड़ा स्रोत था।

उसने लालपेटाई के छोटे व्यापारियों के साथ मिलनसार वाणिज्यिक संबंध स्थापित किये, मुख्य रूप से मुट्टाय्या तिरुमालाई पिल्लई, पिल्ला चेतेई और वेलायुदा चेती आदि के साथ।[9]

1746 में कनकारया मुदालियर की मृत्यु के बाद, फ्रांसीसियों ने एक लम्बे विचार-विमर्श के बाद, कंपनी के अगले कोर्टियर या दुभाषिये के रूप में आनंद रंगा पिल्लई को नियुक्त किया। इस अंतरिम अवधि के दौरान जब आधिकारिक तौर पर पद धारण करने वाला कोई दुभाषिया नहीं था, तो पिल्लई पहले से ही सभी संबंधित काम कर रहे थे। पांडिचेरी के आसपास के क्षेत्र और व्यापार के ज्ञान के कारण, पिल्लई को अपने शहर के फ्रांसिसी और स्थानीय निवासियों के बीच एक उच्च स्थान मिला। पिल्लई के पिता, तिरुवनगदम के पास भी एक बड़ा व्यापारिक सूचना जाल था। नतीजतन, वह सोलह वर्ष से वाणिज्य और व्यापार के मामलों में शामिल थे। पांडिचेरी में ग्रैंड बाजार के पास अरेका नट्स की बिक्री के लिए उनकी एक दुकान भी थी।

इन सभी चीजों ने उन्हें समुद्री व्यापार के बारे में जानकारी और ज्ञान प्राप्त करने में मदद की और अपने समय के एक उल्लेखनीय व्यापारी बनने के लिए महत्त्वपूर्ण साबित हुए। उन्होंने राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर वाणिज्यिक लेनदेन आयोजित किए। उन्होंने न केवल फ्रांसिसी व्यापारियों को निजी व्यापार या देश व्यापार करने में सहायता की बल्कि दक्षिण एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया के क्षेत्र में विशेष रूप से मोचा, कोलंबो और बंगाल में अपने निजी लाभों के लिए व्यापार किया। उनके पास आनंदपुरवी नामक अपना जहाज था, जो पांडिचेरी के आसपास के बंदरगाहों में जाता था। उदाहरण के लिए, उन्होंने अपनी डायरी में उल्लेख किया कि 15 मार्च को, "मेरा जहाज कल कोलंबो पहुंचने के लिए तैयार हो गया था[10]" और एक और मौके पर, वह कोलंबो से अपने जहाज की वापसी यात्रा के बारे में बात करता है।[11]

पिल्लई की सफलता का मुख्य कारण उनके एजेंट थे। उनके पास दो स्तर, पहले, व्यापार और वाणिज्य और दूसरा, राजनीतिक और सैन्य, एजेंट थे। पिल्लई के लगभग सभी व्यापार उनके एजेंटों द्वारा आयोजित किए गए थे, जिन्हें पिल्लई द्वारा सभी प्रमुख बंदरगाहों पर नियुक्त किया गया था। उसका मुख्य एजेंट लालपट्टई में रयाल अययन था, जिन्होंने वहां प्रतिष्ठान और व्यापार की देखभाल की थी। पीर मरककर और मुथुकुमरा पिल्लई जैसे उनके एजेंट पिल्लई की ओर से सिलोन के साथ व्यापार करते थे। व्यापारिक एजेंटों के अलावा उनके पास प्रशिक्षित जासूसों का एक समूह भी था। एक उदाहरण में, डुप्ले, फ्रांसिसी गवर्नर, ने पिल्लई से यह पता लगाने के लिए अनुरोध किया की अंग्रेजों ने अपने जाने को कहाँ छुपाया है।

एक और उदाहरण –जब पांडिचेरी की घेराबंदी अंग्रेजी एडमिरल द्वारा की जा रही थी, तो पिल्लई ने अपने जासूसों के माध्यम से फ्रांसीसी कंपनी को दुश्मन के सभी आंदोलनों के बारे में जानकारी प्रदान कर रहा था।

III

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि प्रारंभिक आधुनिक भारत में भारतीय व्यापरियों द्वारा लिखे गए दस्तावेज न के बराबर मिलते हैं। परन्तु आनंद रंगा पिल्लई इसका एक अपवाद हैं, उन्होंने लगभग सदी के एक चौथाई हिस्से की जानकारी का गठन अपनी डायरी में किया है जो की इतिहास की विभिन्न विधाओं के लिए अद्वित्य स्त्रोत है। डाइरिस्ट ने मुख्य रूप से अठारहवीं शताब्दी में विभिन्न यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों की आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों पर जानकारी एकत्र की थी। यह देशज भाषा (वर्नाकुलर) तमिल में लिखे जा रहे साहित्य का और तमिल भाषा में विकसित हो रही गद्य विधा का एक सटीक उदाहरण है। इस निबंध में यह भी दिखाने की कोशिश की गयी है कि भारतीय इतिहास लिखने के लिए सिर्फ उन भाषाई स्रोतों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए जो कि अपने समय की कोसम्पोलिटन भाषाएँ थीं, बल्कि, अलटरनेट इतिहास लिखने के लिए देशज भाषा में लि गए साहित्य का प्रयोग भी संस्थागत तौर पर इतिहासलेखन में होना चाहिए, ताकि इतिहास में उन आवाजों को भी सुना और महसूस किया जा सके जिन्हें यूरोपियन स्रोतों में या तो दबा दिया गया है या फिर स्थान नहीं दिया गया और या फिर तोड़ मरोड़कर पेश किया गया है, बावजूद इसके कि इतिहासकारों के पास इन समस्या को सुलझाने के लिए ज्ञान के अन्य औजार मौजूद हैं।

इसके अलावा इस संक्षिप्त निबंध के दूसरे हिस्से में पिल्लई की गतिविधियों के अध्ययन के आधार पर यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि प्रारंभिक आधुनिक भारत में व्यापारी किस प्रकार विभिन्न कार्यों में संलग्न थे। यह दर्शाता है कि भारतीय व्यापारियों को बस बिचौलिया बोल देना पर्याप्त नहीं है। दूसरे शब्दों में, भारतीय व्यापारियों ने न केवल आयात-निर्यात चौनलों में निर्माताओं, उत्पादकों, फ्रांसिसी ईस्ट इंडिया कंपनी और फ्रांसिसी निजी व्यापारियों के मध्य मध्यस्थों के रूप में कार्य करते थे, बल्कि वे बाजार से संबंधित रणनीतिक जानकारी भी प्रदान करते थे और स्वयं के लिए भी उपयोग उसका प्रयोग कर रहे थे। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने वाणिज्यिक संबंधों के ध्यान और दिशा को बदलने के एजेंट के रूप में कार्य किया। इन व्यापारियों ने तटीय शहर पांडिचेरी का व्यापार चलाया और उपमहाद्वीप और फ्रांस के अन्य हिस्सों में अंतर्देशीय उत्पादकों, कारीगरों और बाजार के बीच महत्त्वपूर्ण संबंध प्रदान किए। वित्तीय और वाणिज्यिक भूमिका के अलावा, वह राजनैतिक कार्यों में भी संलग्न थे।

संदर्भ-ग्रन्थ

1 Chatterjee, Kumkum, The Cultures of History in Early Modern India: Persianization and Mughal Culture in Bengal, New Delhi: Oxford University Press, 2009; Raziuddin Aquil and Partha Chatterjee, Eds.History in the Vernacular, Ranikhet: Permanent Black, 2008; Pollock, Sheldon, ed. Literary Cultures in History: Reconstructions from South Asia.New Delhi: Oxford University Press, 2003; Rao, Velcheru Narayana, David Shulman and Sanjay Subrahmanyam,Textures of Time: Writing History in South India, 1600 – 1800, New Delhi: Permanent Black, 2001.

2 Stephen, S. Jeyaseela, 'Diaries of the Natives from Pondicherry and the Prose Development of Popular Tamil in the Eighteenth Century', Indian Literature, Vol. 50, No. 2, 2006, pp. 144-155

3 Srinivasachari, C.S., Ananda Ranga Pillai, the 'pepys' of French India, Madras : P. Varadachary & Co., 1940, pp. 3-6

4 Leur, J. Van, Indonesian Trade and Society, The Hague, 1955.

5 Ashin Das Gupta and M.N. Pearson, India and the Indian Ocean, 1500-1800, Delhi: Oxford University Press, 1999; Ashin Das Gupta, R. Mukherjee, and L. Subramanian, Politics and Trade in the Indian Ocean World: Essays in Honour of Ashin Das Gupta, Delhi: Oxford University Press, 1998; Ashin Das Gupta, Malabar in Asian Trade, 1740-1800, Cambridge University Press, 1967; Sanjay Subrahmanian, The Political Economy of Commerce: Southern India, 1500-1650, New York: Cambridge University Press, 1990; Merchants, Markets and state in Early Modern India, New Delhi, 1992; Kanakalatha Mukund, The Trading World of the Tamil Merchant: Evolution of Merchant Capitalism in the Coromandel, Chennai: Orient Longman, 1999.

6 Neild-Basu, S., 'The Dubashes of Madras', Modern Asian Studies, vol. 18 (1), 1984, pp. 11-31.

7 Pillai, Ananda Ranga, The Private Diary of Ananda Ranga Pillai, Dubash to Joseph François Dupleix, Knight of the Order of St. Michael, and Governor of Pondicherry: A Record of Matters Political, Historical, Social, and Personal, from 1736 to 1761, Madras: The Superintendent Government Press, 1904, vol. 1, pp. vii-x

8 The Private Diary of Ananda Ranga Pillai, vol I, p. VIII.

9 The Private Diary of Ananda Ranga Pillai, vol. II, p. 369.

10 The Private Diary of Ananda Ranga Pillai, vol I, p. 117.

11 Ibid, p. 201.

किसी का हुक्म है, सारी हवाएँ
हमेशा चलने से पहले बताएँ,
कि उनकी सम्त क्या है?
हवाओं को बताना ये भी होगा
चलेंगी जब तो क्या रफ़्तार होगी
कि आँधी की इजाज़त अब नहीं है।
हमारी रेत की ये सब फ़सीलें
ये कागज़ के महल जो बन रहे हैं
हिफ़ाज़त इनकी करना है ज़रूरी
और आँधी है पुरानी इनकी दुश्मन,
ये सभी जानते हैं

किसी का हुक्म है दरिया की लहरें
ज़रा ये सरकशी कम कर लें, अपनी हद में ठहरें
उभरना, फिर बिखरना, और बिखरकर फिर उभरना
ग़लत है उनका ये हंगामा करना
ये सब है सिर्फ़ वहशत की अलामत, बग़ावत की अलामत
बग़ावत तो नहीं बर्दाश्त होगी, ये वहशत तो नहीं बर्दाश्त होगी
अगर लहरों को है दरिया में रहना, तो उनको होगा अब चुपचाप बहना

किसी का हुक्म है, इस गुलिस्तां में बस इक रंग के ही फूल होंगे
कुछ अफ़सर होंगे जो ये तय करेंगे, गुलिस्तां किस तरह बनना है कल का
यक़ीनन फूल तो यकरंगी होंगे,
मगर ये रंग होगा कितना गहरा, और कितना हल्का,
ये अफ़सर तय करेंगे

किसी को कोई ये कैसे बताए
गुलिस्तां में कहीं भी फूल यकरंगी नहीं होते, कभी हो ही नहीं सकते
कि हर इक रंग में छिपकर बहुत से रंग रहते हैं
जिन्होंने बाग़ यकरंगी बनाना चाहे थे, उनको ज़रा देखो
कि जब एकरंग में सौ रंग ज़ाहिर हो गए हैं तो
वो अब कितने परेशां हैं, वो कितने तंग रहते हैं

किसी को अब कोई कैसे बताए
हवाएँ और लहरें कब किसी का हुक्म सुनती हैं
हवाएँ हाकिमों की मुट्ठियों में, हथकड़ी में, क़ैदख़ानों में नहीं रुकतीं
ये लहरें रोकी जाती हैं, तो दरिया कितना भी हो पुरसुकूं बेताब होता है
और इस बेताबी का अगला क़दम सैलाब होता है
किसी को ये कोई कैसे बताए !

–जावेद अख़्तर

साभार

जो पुल बनायेंगे
वे अनिवार्यतः पीछे रह जायेंगे
सेनाएँ हो जायेंगी पार
मारे जायेंगे रावण
जयी होंगे राम,
जो निर्माता रहे,
इतिहास में बंदर कहलायेंगे

- अज्ञेय

ISBN 938575832-2
9789385758324